



BONGA SANI MUNICIPAL LIBRARY

NAINI TAL

हुर्गुल सुविधिपुस्तकालय
नैनीताल

उपनाम

Class no. 891.3

Date no. R.964

Reg. no. 4399

बहुत से पाठक चाहते हैं कि उर्दू भाषा का सुन्दरतम साहित्य हिन्दी में भी पढ़ने को मिले । 'उमराव जान अदा' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयत्न है । इसके पढ़ने से हिन्दी के पाठकों को विशेष आनन्द प्राप्त होगा । 'उमराव जान अदा' एक ऐसा भाषा प्रधान उपन्यास है, जिसमें आज से सौ वर्ष पहले की उर्दू का, जो उस समय लखनऊ में प्रचलित थी, इस खूबी के साथ दिग्दर्शन कराया गया है कि प्रस्तुत कृति, अपनी भाषा के साहित्य में 'क्लासिक' बन चुकी है । अपने भाषा वैचित्र्य के कारण ही यह उर्दू की विभिन्न उच्च परीक्षाओं में पाठ्य पुस्तक के रूप में भी स्वीकृत है । निस्संदेह, यह एक महान रचना है, एक पवित्र और उच्च कोटि की रचना, जिसका कोई भी फ़िकरा आदि से अन्त तक तहजीब से गिरने नहीं पाया है, और चरित्र चित्रण तो इस कुशलता के साथ किया गया है कि इसकी छाप पाठक के दिल और दिमाग पर तमाम ज़िन्दगी बनी रहेगी । हमारा यह दावा है कि एक बार शुरू कर देने पर, यह पुस्तक आपके हाथ से उस समय तक न छूटेगी, जब तक कि समाप्त न हो जाय ।

आकाश जान
'अदा'
'रुसवा'



बोध प्रकाशन, चरखे वालान दिल्ली

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

Durga Sah Municipal Library,
NAINITAL.

दुर्गासाह म्युनिसिपाल लाइब्रेरी
नैनीताल

Class No. 8913

Book No. 164

Received on ... 11.10.1959 ...



4399

मूल्य : चार रुपये पचास नये पैसे (४.५०)

प्रथम संस्करण : सन् १९५८

अनुवादक : गुलशन नन्दा

प्रकाशक : सुबोध प्रकाशन, दिल्ली

मुद्रक : राजकमल प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

न हँसो देख के तदबीर को पलटे खाते ।
देर लगती नहीं तक्दीर को पलटे खाते ॥

प्रकाशकीय

हर्ष का विषय है कि अब हिन्दी वालों का ध्यान हिन्दी से सम्बद्ध भाषाओं की ओर भी आकर्षित होने लगा है और विशेष कर उर्दू भाषा और उसके शब्दों से परिचित होने की प्रवृत्ति दिनों दिन बढ़ रही है। भाषा के क्षेत्र में यह शुभ लक्षण है और साथ ही हमारे साहित्य की प्रगति और उन्नति में सहायक भी है। उर्दू और हिन्दी का सम्बन्ध बहुत पुराना है, और इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान हिन्दी के आधुनिक रूप के विकास में उर्दू का बहुत बड़ा हाथ है।

बहुत से पाठक चाहते हैं कि उर्दू भाषा का सुन्दरतम साहित्य हिन्दी में भी पढ़ने को मिले। 'उमराव जान अदा' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयत्न है। इसके पढ़ने से हिन्दी के पाठकों को विशेष आनन्द प्राप्त होगा। 'उमराव जान अदा' एक ऐसा भाषा प्रधान उपन्यास है, जिसमें आज से सौ वर्ष पहले की उर्दू का, जो उस समय लखनऊ में प्रचलित थी, इस खूबी के साथ विवर्धन कराया गया है कि प्रस्तुत कृति, अपनी भाषा के साहित्य में 'क्लासिक' बन चुकी है। अपने भाषा वैचित्र्य के कारण ही यह उर्दू की विभिन्न उच्च परीक्षाओं में पाठ्य पुस्तक के रूप में भी स्वीकृत है। निस्संदेह, यह एक महान् रचना है, एक पवित्र और उच्च कोटि की रचना, जिसका कोई भी फ़िक़र आदि से अन्त तक तहज़ीब से गिरने नहीं पाया है, और चरित्र चित्रण तो इस कुशलता के साथ किया गया है कि इसकी छाप पाठक के दिल और दिमाग पर तमाम ज़िन्दगी बनी रहेगी। हमारा यह दावा है कि एक बार शुरू कर देने पर, यह पुस्तक आपके हाथ से उस समय तक न छूटेगी, जब तक कि समाप्त न हो जाय।

अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इसका आनन्द मूल भाषा जैसा ही है, चूँकि भाषा की प्रधानता को मानते हुए, हमने इसे केवल कहीं-कहीं छू भर दिया है। अन्यथा, इसका सारा मजा मिट्टी हो जाता।

प्रायः उर्दू के शब्दों को हिन्दी में लिखते हुए एक विशेष कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है और वह है, उनके नीचे बिन्दी लगा कर लिखना। जहाँ तक हो सका है, ऐसे अक्षरों के नीचे बिन्दी ही लगाई गई है, पर यदि कहीं बिन्दी नहीं आ पाई है, तो वह प्रेस की भूल अथवा असमर्थता है।

हमें आशा है और साथ ही विश्वास भी कि हिन्दी के पाठक हमारे अन्य प्रकाशनों की भाँति, इसे भी अपनायेंगे और भविष्य में और भी श्रेष्ठ साहित्य प्रकाशित करने के लिये हमें प्रोत्साहित करेंगे।



भूमिका

हम को भी क्या-क्या मझे की वास्तानें याद थीं,
लेकिन अब तबहीदे जिंकरे दर्द सातम हो गई ।

नाजरीन, यह निरस्ता शुरू यों होता है, कि दस-बारह बरस पहले दिल्ली की तरफ वे रहने वाले मेरे एक दोस्त, मुन्शी अहमद हुसैन साहब, सैर-सफ़र के लिए लखनऊ लगीरफ लाये थे । इन्होंने चौक में सैयद हुसैन के फाटक के पास एक कमरा किराये पर लिया था । यहाँ अक्सर, दोस्त सरेखाम आ बैठते थे । बहुत ही लुफ्त की सोहत होती थी । भु शी साहब की शायरी सात-भाने की निपाकत, आला दर्जे की थी । खुद भी कभी-कभी कुछ कह लेते थे, और अच्छा कहते थे, लेकिन ज्यादातर सुनने की शीक था । इसलिये अक्सर सेरो-सहूत का चर्चा रहता था । इसी कमरे के बराबर एक और कमरा था । इसमें एक तबामफ रहती थी । रहन-भाहन का तगीफा और रंडिों से विलकुल शलहदा था । न कभी किसी ने कमरे पर सरे राह बैठते देखा, न वहाँ किसी का आना जाना ही था । दरवाजों में गिर-शान पर्दे पड़े रहते थे । चौक की तरफ, निघास का रास्ता विषकुल बन्द रहता था । गली की तरफ एक और दरवाजा था । इसी से नीकर-चाकर आते-जाते थे । अगर कभी कभी रात को शाने की आवाज न आया करणी, तो यह भी न मालूम होता कि इस कमरे में कोई रहता भी है । जिस कमरे में हम लोगों की बैठक थी, इसमें एक छोटी-सी बिड़की लगी थी, अगर इसमें कपड़ा पड़ा हुआ था ।

एक दिन हमेशा की तरह दोस्तों का जलसा था । कोई राजल पड़ रहा था । दोस्त वाद दे रहे थे । इन्ने में मैंने एक शेर पढ़ा । उस बिड़की की तरफ से 'बाह-बाह' की आवाज आई । मैं चुप हो गया और दोस्त भी उस

तारफ़ मुतवज्जेह हो गये। मुन्शी अहमद हुसैन ने पुकार के कहा : 'शायबाना तारीफ़ ठीक नहीं। अगर शेर-सखुन का शौक है, तो जलसे में तशरीफ़ लाइए।' इसका कोई जवाब न मिला। मैं फिर ग़ज़ल पढ़ने लगा। बात आई-गई हो गई। पर थोड़ी देर के बाद एक महरी आई। इसने पहले सबको सलाम किया, फिर कहा : 'मिर्जा साहब कौन साहब हैं ?'

दोस्तों ने मुझे बता दिया। महरी बोली : 'बीबी ने ज़रा आपको बुलाया है।'

मैंने पूछा : 'कौन बीबी ?'

महरी ने कहा : 'बीबी ने कह दिया है, नाम न बताना ! आगे आपका हुक्म।'

मुझे महरी के साथ जाने में हिचक हुई। दोस्त मुझ से मज़ाक करने लगे : 'हाँ साहब, क्यों नहीं ! कभी की साहब-सलामत है, जब ही तो इस तरह बुला भेजा !'

मैं दिल में ग़ौर कर रहा था, कि कौन साहब ऐसे बेतकलुफ़ हैं।

इतने में महरी ने कहा : 'हुज़ूर, बीबी आपको अच्छी तरह जानती हैं, जब तो बुला भेजा है।'

आखिर जाना ही पड़ा। जाके जो देखा, तो अहा ! उमराव जान तशरीफ़ रखती थीं !

उमराव जान देखते ही बोली : 'बल्लाह ! मिर्जा साहब आप तो हमें भूल ही गये।'

मैं : 'यह मालूम किसे था, कि आप किस कोह क़ाफ़ में तशरीफ़ रखती हैं ?'

उमराव जान : 'यों तो मैं अक्सर आपकी आवाज़ सुना करती थी, लेकिन कभी बुलाने की हिम्मत न हुई। मगर आज आप की ग़ज़ल ने बेचैन कर दिया। बेसास्ता मुँह से 'वाह' निकल गया। उधर किसी साहब ने कहा, 'यहाँ आइए ?' मैं अपनी जगह पर आप ही शर्मिन्दा हुई। जी में आया चुप रहूँ, मगर दिल न माना। आखिर अगली खसूसियतों के लिहाज़ से आपको तकलीफ़ दी। माफ़

कीजियेगा । हाँ, वह शेर जरा फिर पढ़ दीजिए ।'

मैं : 'माफ़ तो कुछ भी न होगा, और न मैं शेर ही सुनाऊँगा । अगर शौक हो, तो वहीं तशरीफ़ ले चलिए ।'

उमराव जान : 'मुझे चलने में कोई उज़्र नहीं । मगर खयाल है, कि साहब खाना या और किसी साहब को मेरा जाना नागवार न हो ।'

मैं : 'आपके हवास दुस्त हैं ? भला ऐसी जगह मैं आपको चलने के लिए क्यों कहता ? बेतकल्लुफ़ सोहबत है । आपके जाने से और खुश होगा ।'

उमराव जान : 'यह तो सच है, मगर कहीं ज्यादा बेतकल्लुफ़ी न हो ?'

मैं : 'जी नहीं ! वहाँ मेरे सिवा कोई आपसे बेतकल्लुफ़ नहीं हो सकता ।'

उमराव जान : 'अच्छा, तो कल आऊँगी ।'

मैं : 'अभी क्यों नहीं चलती ?'

उमराव जान : 'ऐ, है ! देखिये तो किस हैसियत से बैठी हूँ !'

मैं : 'वहाँ कोई मुजरा तो है नहीं । बेतकल्लुफ़ सोहबत है । चली चलिए ।'

उमराव जान : 'उई मिर्जा ! आपकी तो बातें लाजवाब होनी हैं । अच्छा, चलिए । मैं आती हूँ ।'

मैं उठ कर चला आया । थोड़ी देर के बाद उमराव जान साहब जरा कंधी-चोटी करके, कपड़े बदल के आई ।

मैंने दोस्तों से चन्द अलफ़ाज़ में उनके शेरों सखुन के मज़ाक़ और गाने के कमाल वग़ैरह की तारीफ़ कर दी । लोग मुश्ताक़ हो गये थे । जब वह तशरीफ़ लाई, तो यह ठहरी कि सब साहब अपना-अपना कलाम पढ़ें और वह भी पढ़ें । खुलासा यह, कि वहाँ बड़े खुश का जलसा हुआ । उस दिन से उमराव जान, अकसर शाम को चली आती थी । घंटे-दो-घंटे बैठक रहती थी । कभी शेरों-शायरी का जलसा हुआ, कभी उन्होंने कुछ गाया । दोस्त मसरूर हुए । ऐसे ही एक जलसे की क्रियत हम यहाँ लिखे देते हैं । इन मुशायरों में, न कोई तरह मुकर्रर की जाती थी, और न बहुत से लोगों से वादे लिये जाते थे । सिर्फ़ बेतकल्लुफ़ दोस्त जमा हो जाते थे, और अपनी-अपनी ताज़ा कही हुई ग़ज़लें पढ़ते थे ।

मुआयरा

उमराव जान : 'किसको सुनायें हाले दिले ज़ार ऐ 'अदा'

आवारगी में हमने ज़माने की सैर की ।'

मिर्जा रुमदा : 'क्या कहना, बी उमराव जान साहब ! यह मक़ता तो आपने हाल के मुताबिक़ ही कहा है । और शेर ! क्यों न हो ?'

उमराव जान : 'तस्लीम, मिर्जा साहब ! आपके सर की क़सम, बस वह मतला याद था । और वह मतला भी खुदा जाने किस ज़माने की ग़ज़ल है । अबानी कहाँ तक याद रहे ? बेयाज़ निगोड़ी शुम हो गई ।'

मुन्शी साहब : 'और वह मतला क्या था ? हमने नहीं सुना ।'

रुमदा : 'आप तो इन्तज़ाम में लगे हुए हैं । सुने कौन ?'

इसमें शक़ नहीं, कि मुन्शी साहब ने आज के जलसे के लिये बड़े सलीके से इन्तज़ाम किया था । गर्मियों के दिन थे । महताबी पर, दो घड़ी दिन रहे छिड़काव हुआ था, कि शाम तक ज़मीन ठण्डी रहे । इसी पर दरी बिछा के उजली चाँदनी का फ़र्श कर दिया था । कोरी-कोरी सुराहियाँ, पानी भर के, केवड़ा डाल के, मुँडेर पर चुनवा दी गई थीं । इन पर वालू के आबख़ोरे ढँके हुए थे । बर्फ़ का इन्तज़ाम अलहदा से किया गया था । काराज की हाँडियों में सफ़ेद पानों की सात-सात गिलौरियाँ सुख़े साफ़ी में लपेट कर, केवड़े में बसा कर, रख दी गई थीं । ढकनियों पर थोड़ा-थोड़ा खाने का खुशबूदार तम्बाकू रख दिया था । डेढ़ ख़मे हुक्के के नैचों में पानी छिड़क-छिड़क कर हार लपेट दिये गये थे । चाँदनी रात थी, इसलिये रोशनी का इन्तज़ाम ज़्यादा नहीं करना पड़ा था । सिर्फ़ एक सफ़ेद कँवल रोशन कर दिया गया था । आठ बजते-बजते सब दोस्त, भीर साहब, आग़ा साहब, ख़ाँ साहब, शेख़ साहब, पंडित साहब चौरा-चौरा तशरीफ़ ले आये । शीर फ़ालुदे के एक-एक प्याले का दौर चला । फिर शेरों-सबुन का चर्चा होने लगा ।

मुन्शी साहब : 'तो फिर हमारा इन्तज़ाम आप कीज़िए । बन्द तो शेर सुनेगा ।'

रुसबा : 'माफ़ फ़रमाइए । मुझ से यह दर्दे-सर न होगा ।'

मुन्शी साहब : 'अच्छा, वह मतला क्या था ।'

उमराव जान : 'मैं अर्ज किये देती हूँ,

'कावे में जा के भूल गया राह देर की,

ईमान बच गया, मेरे मौला ने खैर की ।'

मुन्शी साहब : 'खूब कहा है।'

खाँ साहब : 'अच्छा मतला है । मगर यह भूल गया क्यों ?'

उमराव जान : 'तो क्या, खाँ साहब, रेखती कहती हूँ ?'

खाँ साहब : 'मज्जा तो रेखती का है । 'मेरे मौला ने खैर की' आप ही की जवान से अच्छा मालूम होता है ।'

रुसबा : 'बस आपके हमले शुरू हो गये ! ले, शेर सुनने दीजिए । खाँ साहब, अगर सब आप ही के से आलिम-फ़ाज़िल हो जायें, तो शेरगोई का मज्जा तशरीफ़ ले जाय,

'हर गुलेरा रंग व बूये दीगर अस्त' ।'

खाँ साहब (किसी कदर बुदे तेवरों से) : 'दुस्त ।'

रुसबा : 'उमराव जान, अच्छा तों कोई श्रौर गज़ल पढ़ो ।'

उमराव जान : 'देखिए, कुछ याद आये; तो अर्ज करूँ ।' (कुछ देर बाद)

'शबे फ़ुरक़त बसर नहीं होती ।'

सब लोग : 'वाह-वाह ! सुभान अल्ला ! क्या कहना !'

उमराव जान (तस्लीम करके) : 'यह शेर मुलाहज़ा हो—

शोरे फ़रियाद ता फ़लक पहुँचा,

मगर उसको ख़बर नहीं होती ।'

रुसबा : 'क्या शेर है !'

हाज़रीन ने भी तारीफ़ की ।

उमराव जान : 'आपकी इनायत । तस्लीम, तस्लीम !

तेरे कूचे के बेनवाशों को,

हवसे मालो ज़र नहीं होती ।'

(अहवाव तारीफ करते हैं, उमराव जान तस्लीम करके पढ़ती हैं।)

'जान देना किसी पे लाज़िम था,

ज़िन्दगी यूँ बसर नहीं होती !'

हसबा : 'वाह ! ख़ाँ साहब, यह बेर मुलाहज़ा हो ।'

ख़ाँ साहब : 'सुभान अल्लाह ! हकीकत में क्या बेर कहा है !'

उमराव जान : 'आप सब साहब क़दर-अफ़जाई फ़रमाते हैं, वर्ना मैं क्या मेरी हकीकत क्या ?

है यक़ीन वह न आयेंगे फिर भी,

कब निगह सूये दर नहीं होती ।'

ख़ाँ साहब : 'यह भी ख़ूब कहा !'

पंडित साहब : 'क्या तर्जो कलाम है !'

उमराव जान (तस्लीम करके) :

'अब किस उम्मीद पर नज़र मेरी,

शिकवा संजो-असर नहीं होती ।'

ख़ाँ साहब : 'क्या ख़ूब कहा है ? फ़ारसीयत टपक रही हैं ।'

मुन्शी साहब : 'कुछ भी हो, मज़मून अच्छा है ।'

उमराव जान : 'तस्लीम !

हम असोराने इश्क़ को सैयाद,

हविते बालो पर नहीं होती ।'

(अहवाव तारीफ़ करते हैं)

उमराव जान : 'तस्लीम !

ग़लत अन्दाज़ ही सही वह नज़र,

क्यों मेरे हाल पर नहीं होनी ।'

ख़ाँ साहब : 'हाँ, होना चाहिए । ख़ूब कहा है !'

उमराव जान : 'मक़ता मुलाहज़ा हो,

ए 'अदा' हम कभी न मानेंगे,

दिल को दिल की ख़बर नहीं होती ।'

खाँ साहब : 'क्या मक़ता कहा है ! यह आप अपना तजरबा बयान करती हैं । और लोगों की राय इसके खिलाफ़ है ।

उमराव जान : 'जाती तजरबा जो कुछ भी हो । मैंने तो एक शायराना मज़मून कहा है ।'

रुसवा : 'अच्छा ज़रा फिर तो पढ़िए ।'

उमराव जान ने फिर पढ़ा ।

रुसवा : 'मुझे तो ऐसा मालूम होता है, कि इस मज़मून के दोनों पङ्क्त इस शेर से निकल सकते हैं ।

खाँ साहब : 'वाक़ई, मिर्जा साहब । क्या बात कही है !'

अहबाब : 'राजल मनला से मक़ता तक एक रंग है ।'

आगा साहब : 'लफ्ज़ों की तरतीब तो मुलाहज़ा हो ।'

पंडित साहब : 'क्या मोती बरसाये हैं ।'

उमराव जान (खड़ी होकर) : 'तस्लीम !'

मुन्शी साहब (खाँ साहब से) : 'अब आप कुछ इरशाद कीजिए ।'

खाँ साहब : 'हज़रत मुझे तो माफ़ कीजिए । कुछ याद ही नहीं आता ।'

रुसवा : 'कुछ तो पढ़िए ।'

खाँ साहब ने एक मतला और दो शेर पढ़े,

'हैफ़ बिनत-उल्-अतब नहीं मिलती,

माह में एक शब नहीं मिलती ।'

रुसवा : 'क्या अच्छा इशारा है । चौदहवीं रात को भी नहीं मिलती !'

खाँ साहब : 'तस्लीम !

यों तो मिलती है दादे शनअते शेर,

दादे हुस्ने तलब नहीं मिलती ।'

रुसवा : 'वाह !'

खाँ साहब : 'तस्लीम !

शोखियों से किसी की मेरी मुराद,

पहले मिलती थी, अब नहीं मिलती ।'

रुसवा : 'लाजबाब शेर है !'

खौं साहब : 'तस्लीम !

इसके बाद एक साहब तशरीफ लाये । आदमी के हाथ में लालटेन थी ।

खौं साहब : 'यह कौन साहब आते हैं ? चाँदनी रात में लालटेन की क्या जरूरत थी ?'

नवाब साहब : 'हजरत, हिमाकत तो हुई । माफ़ कीजिएगा !'

खौं साहब : 'अख्खाह नवाब साहब ! आपके सामने कोई हर्ज नहीं ।'

नवाब साहब तशरीफ लाये । सब ने ताज़ीम की । ग़ज़ल पढ़ने की फ़र्मा-इश हुई ।

नवाब साहब : 'मैं तो आप साहबों का मुश्ताक़ हो के आया हूँ । मुझे तो कुछ याद नहीं ।'

शेख़ साहब : 'जनाब ग़ज़ल पढ़नी होगी !'

नवाब साहब : 'अच्छा, तो जो कुछ आता है, अर्ज किये देता हूँ,
दिल में ख़ुब जायगी कातिल की अदा एक न एक,
कारगर होगा कभी तीरे-क्रिया एक न एक ।'

अहबाब : 'वाह वाह ! वाह वाह ! क्या शेर है !'

नवाब साहब : 'तस्लीम ! (इसके बाद चुप हो रहते हैं)

रुसवा : 'और कुछ इरशाद हो ।'

नवाब साहब : 'बतलाह, अब कुछ याद ही नहीं आता ।'

मुन्शी साहब : 'तब आप दादे फ़साहत दीजिए ।'

पंडित साहब : 'दो-तीन शेर अर्ज किये देता हूँ,

चस्ल में ज़िक़े अदू भी दम-बदम होता रहा;

शरबते-दीवार मेरे हक़ में सम होता रहा ।'

(अहबाब तारीफ़ करते हैं ।)

पंडित साहब : 'जाहिदी दो दिन से चर्चा हक़ परस्ती का हुआ,

वरना काबे में सदा ज़िक़े सनम होता रहा ।'

नवाब साहब : 'हम नहीं कह सकते, मगर ख़ूब कहा !'

पंडित साहब : 'कहिए न कहिए, मगर बात सच्ची है। यह शेर मुलाहजा हो,

वाइजा क्यों सर झुकाए वह किसी के खबर,
जिसका सर नदशे क्रदम पर उसके खम होता रहा।'

(अहवाब तारीफ करते हैं।)

पंडित साहब : 'जुलूस की तारीफ में दफ्तर के दफ्तर लिख दिये,
सुबसु हाले परेशानी रकम होता रहा।'

रसवा : 'यह खास लखनऊ का मजाक है।'

पंडित साहब : 'और आप देहली के कब हैं ?'

रसवा : 'अच्छा, शेर पढ़िए। मैंने तो एक बात कही।'

पंडित साहब : 'दिल जो था पहले गुले नौरस्तये बागे मुरादे,
खार खोरे हसरते जोए-अलम होता रहा।'

नवाब साहब : 'देखिए, क्या शेर कहा है।'

खाँ साहब : 'मतानते अलफाज मुलाहजा हो।'

पंडित साहब : 'मन्नता मुलाहजा हो,

शुक्रिया 'मखमूर' उसका कब अदा तुभसे हुआ,
हर नकस तुभ पर जो खालिफ का करम होता रहा।'

खाँ साहब : 'सुभान अल्लाह !'

रसवा : 'खाँ साहब, आपके मारे तो शेर ही पढ़ना मुश्किल है।'

अहबाब : 'सुभान अल्लाह ! क्या ग़ज़ल फ़रमाई है !'

पंडित साहब : 'आपकी इनायत, परवरिश, वन्दा नवाजी ! बल्लाह, यह
आप ही लोगों का सदाका है।'

मुन्शी साहब : 'शेख साहब, आप तो कुछ इरशाद कीजिए।'

शेख साहब (मुस्करा कर) : 'जी, मुझे तो कुछ याद नहीं !'

खाँ साहब : 'याद नहीं, मगर सत्तर शेर की ग़ज़ल जेब में होगी।'

शेख साहब : 'बल्लाह, नहीं। सिर्फ़ चार शेर अभी मौजूद कर लिये हैं।'

रसवा : 'तो फिर पढ़ते क्यों नहीं ?'

शेख साहब : 'अर्ज किये देता हूँ,

अर्ज वह अर्ज है जिसमें कोई इसरार न हो..

बात वह बात कि जिस बात से इन्कार न हो ।'

(अहवाव तारीफ़ करते हैं ।)

शेख साहब : 'तस्लीम !

मिस्ले यूसुफ़ सरे-बाज़ार पड़े फिरते हो,

क्या ही शरमाग्रो अगर कोई खरीदार न हो ।'

रसवा : 'क्या अच्छा मजाक है !'

शेख साहब : 'तस्लीम !

दिल वह अच्छा जो हसीनों की नज़र में न जमे,

जिस वह खूब कोई जिसका खरीदार न हो ।'

ख़ाँ साहब : 'बहुत खूब सिन्दे जो पटने ममला

करले उदशाक की बंकार कसम खाते हो, जो

हम न मानेंगे अगर हाथ में तलवार न हो ।'

इतने में एक आदमी आया, और उसने एक पर्चा मुन्शी अहमद हुसैन को दिया ।

मुन्शी साहब (खका पड़ कर) : 'लीजिए, मिर्जा साहब तशरीफ़ नहीं लायेंगे । ग़ज़ल ताज़ा भेज दी है ।'

मैंने आदमी से पूछा : 'क्या कर रहे हैं ।'

आदमी (मुस्करा के) : 'जी, हुज़ूर सिकन्दर बाग़ से सरेशाम बहुत से अँगरेज़ी दरख्तों के नाँदे ले के आये हैं । उनको गोल हौज़ के किनारे पत्थरों के अन्दर सजा रहे हैं । माली पानी देता जाता है ।'

रसवा : 'जी हाँ, उन्हें अपने आमाँल से फ़ुर्सत कहाँ, जो मुशायरे में तशरीफ़ लायें ।

मुन्शी साहब : 'अच्छा, तो ग़ज़ल पढ़ दीजिए । वल्लाह, क्या सोहबत को बेवुत्तफ़ किया ! न आये ना । अच्छा ग़ज़ल ही पढ़ दीजिए ।

रसवा : 'मुँक से तो कुछ न पढ़वाइयेगा ?'

मुन्शी साहब : 'हाँ खूब याद आया ! अच्छा, तो पहिले आप पढ़ लीजिए ।'

रुसवा : 'न पूछो हम से क्योंकिर ज़िन्दगी के दिन गुज़रते हैं,

किसी बेदर्द की फ़ुरक़त में जीते हैं न मरते हैं ।

कोई उनसे कहे विल ले के भी यों ही मुकर जाना,

अड़ के सामने जो गालियाँ दे कर मुकरते हैं ।

अभी तो हँस रहे हैं मुद्दी चौके ज़राफ़त पर,

न पूछो उस मजे का जब तमक ज़ख़मों में : रो हैं ।

तमाशा हो जो उनका बोसा लेकर हम मुकर जायें,

बहुत जो चाहने वालों का दिल लेकर मुकरते हैं ।

उन्हीं का नाम ले लेकर कोई फ़ुरक़त में मरता है,

कभी तो वह भी सुन लेंगे जो बदनामी से डरते हैं ।

बिगाड़ा हमको क़िस्मत ने तो फिर बनना नहीं मुमकिन,

वह गेसू हैं किसी के जो बिगड़ के फिर सँवरते हैं ।

कभी शाने से उलभे वह, कभी आईने को तोड़ा,

सँवरने में बिगड़ते हैं बिगड़ने में सँवरते हैं ।

हमें ज़िन्दा न छोड़ेंगी अदायें उनके जोबन की,

दुपट्टा ओढ़कर आड़ा जो चलने में उभरते हैं ।

अदा से नाज़ को 'रुसवा' है दावा पारसाई का,

कोई पूछे तो आख़िर मरने वाले किस पे मरते हैं ।'

अहबाब ने हर शेर की दाद दी । रुसवा ने सरे-तस्लीम ख़म किया ।

इसके बाद मिर्जा साहब की ग़ज़ल पढ़ना शुरू की ।

कल रात को उन्हें जो कहीं देर हो गई,

दुनिया हमारी आंखों में अँधेर हो गई ।

मरने के दिन क़रीब हैं शायद कि ऐ हयात,

तुझ से तबीयत अपनी बहुत सेर हो गई ।

बेहूदा ख़्वाहिशों ने न जीने दिया हमें,

इन सूज़ियों से अक़ल मगर ज़ेर हो गई ।

ऐ मौत तुझको क्या हुआ तू ही बला से आ,
 उनकी तो आते-आते बड़ी देर हो गई।
 मेरी तबाहियों की तुम्हें अब खबर हुई,
 क्या पूछते हो उम्र यों ही तेर हो गई।
 आज उनसे हमने आने का वादा किया तो है,
 वस ही निकल गया जो कहीं देर हो गई।
 टलना था मेरे पास से ऐ काहिली तुझे,
 कमबख्त तू तो आके यहीं देर हो गई।
 दुबकी हुई थी गुरबा सिफत ख्वाहिशे निगाह,
 चुमकारने से फूल गई शेर हो गई।
 मिर्जा मुशायरे में न तशरीफ लायेंगे,
 ताचन्द इन्तज़ार बड़ी देर हो गई।'।

इसके बाद मजहबूल हज़रामी एक शायर, कहीं बाहर के रहने वाले, जो उस वक़्त इन्तफ़ाज़ से मुशायरे में आये हुए थे, उन्होंने भी अपनी नज़म पढ़ी।
 इस नज़म की इन्ताफ़-पसन्द अह्वाब ने बड़ी तारीफ़ की।

हर बोर पर अहले-महफ़िल तारीफ़ करते जाते थे। मुन्शी साहब पर बज़द का आलम तारी था। उमराव जान भूम रही थीं। और मेरा जो हाल था, वह, मेरे दिव से कोई पूछे।

मुन्शी साहब : 'हाँ, जनाब आगा साहब, अब आप कुछ फ़रमाइए।'।

आगा साहब : 'बहुत खूब। मतला मुलाहज़ा हो,

कहीं सामान ऐसे हों, तो कुछ दिल को मेरे कल हो,

मटर उबले हुए हों, और इक ठर्रे की बोतल हो।'।

अह्वाब : 'आगा, साहब क्या मतला फ़रमाया है !'

आगा साहब : 'ऐ हज़रत, अभी आपने सुना ही क्या है ! और सुनिए,

वह मजसूँ ढूँढ कर बाँधूँ कि जो मुश्किल से मुश्किल हो,

कहूँ वह मतलए-सानी कि जो अश्वल से अश्वल हो।'।

अह्मदाब : 'वेशक, अक्कल से अक्कल है !'

आशा साहब : 'ले अब बेर मुलाहजा हों,

अगर जाड़े में तू मिल जाय, तो क्या राम है जाड़े का,

तेरी जुल्फें हों शान पर, दुशाला हो न कम्बल हो ।'

इस बेर का खल नवाब साहब की तरफ था, जो जाली का कुरता, हल्का बादामी रंगा और बारीक मलमल का अँगरखा पहने, बगद खोले हुए बैठे थे, और एक निहायत नफीस पंखिया, जो हाथ में थी, झलते जाते थे ।

(अह्मदाब तारीफ़ करते हैं ।)

आशा साहब : 'बेर मुलाहजा हो,

कहो बेवारगी' में भी तबीयत खुश रखे मजबू,

कि चर ले नाकाये-लेला हरी जब दिल की कोपल हो ।

पंडित जी : 'सुभान अल्लाह ! और तो और, यह बेवारगी से क्या क्या चारा निकाला है ?'

अह्मदाब : 'बल्लाह ! समझे भी खूब ! समझ हो तो ऐसी हो, नहीं तो न हो ।'

आशा साहब : 'न हो । अच्छा, अब यह बेर सुनिये,

कहो उश्शाक से अपने कि जव्ते गिरिया फ़रमायें,

दकेगा रास्ता घर का, अगर कूचे में दलदल हो ।'

शेख़ साहब : 'अच्छी कही !'

रुसमा (खाँ साहब से) : 'आप क्यों आनोस हैं ? कोई तो एतराज निकालिये ।'

आशा साहब : 'हाँ, जनाब, क़द्रे-शिनास की खामोशी ठीक नहीं है ।'

खाँ साहब : 'आप मेरी तारीफ़ को कहीं तहसीने नाशिनास न समझें, इसलिए चुप हूँ ।'

आशा साहब : 'नहीं, हज़रत, मेरी ऐसी उल्टी समझ नहीं है ।'

अह्मदाब इस फ़िकरे पर लोट गये ।

आशा साहब : 'बेर सुनिए,

हमें रश्क आये अपने से, हमों से शेर पैदा हों,
हम ऐसे दो नजर आये, अगर माशूक अहवाल हो ।

अहवाल : 'आशा साहब, सुभान अल्लाह ! क्या नाजुक ख्याली है !'

आशा साहब : 'तस्लीम,

'अभी कमसिन है, उनको शौक है लंगड़ लगाने का,
तिकल्ला डोर का हो, इक न कनकैया, न सुक्कल हो ।'

इस शेर का खल भी नवाब साहब की तरफ था, इसलिये कि आप ही
की सरकार आली जाह से कनकैया की बरात बड़ी धूम से निकली थी ।

आशा साहब : 'कोई उनसे कहे जो शेर मानीबन्द कहते हैं,

खुले क्या राजे सरबस्ता जो दरवाजा मुकफ़ल हो ।'

रसवा : 'आशा साहब, क्या कहना ! उमराव जान, जरा सुनना, क्या शेर
कहा है !'

उमराव जान : 'सुभान अल्लाह ! मैं पहले ही समझ गई । जो चाहें,
कहें । मालिक हैं !'

आशा साहब : 'तो साफ़ क्यों नहीं कहती, कि दोजख का दरवान हैं ।
अच्छा सुनिये,

किसी सूरत से बहला लेंगे उस माशूक कमसिन को,

डबल पैसा न हो, रेबड़ी न हो, तो गोल गप्पल हो !'

अहवाल : 'क्या कहना !'

आशा साहब : 'कभी गाली सुना बैठे, कभी जुता लगा बैठे,

हुकूमत का मजा आए, अगर माशूक अरज़ल हो ।'

ख़ाँ साहब : 'दुरुस्त । मगर आपकी शराफ़त से बर्द है ।'

आशा साहब : 'जनाव शरीफ़ कौन है इस ज़माने में ?

खुदा के फ़जल से उतरा था, क्या ही अशं से जोड़ा,

न मुक-सा कोई गुर्गा हो, न तुम-सी कोई शफ़तल हो ।'

नवाब साहब : 'ख़ुब ! मगर रहेसखुन किसकी तरफ़ है ?'

आशा साहब : 'यह तो आप ही समझ सकते हैं, आप महरमे राज हैं ।'

खाँ साहब : 'आप जवाब दीजिए ।'

आशा साहब : 'आप क्या जवाब देंगे ? यह शेर सुनिये—

हम उस नाजुक-अदा की शोखियों पर जान बेटे हैं,

शुतर के जिसमें गमजो हों, फ़रस की जिसमें छलबल हो ।'

अहबाब : 'वाह री हिम्मत !'

आशा साहब : 'अच्छा, न सही । यह सुनिये,

मैं दिल को चीर डालूँगा, जो तुम पहलू से उठ जाओ,

मैं आँखें फोड़ डालूँगा, जो तुम आँखों से ओझल हो ।

अहबाब : 'खूब !'

आशा साहब : 'तुम्हारी सादगी में कुछ अजब आलम निकलता है,

न चोटी हो, न कंधी हो, न मिस्सी हो, न काजल हो ।"

उमराव जान : 'उई ! तो क्या दिन-रात सर-भङ्ग, मुँह-फाड़ बैठा रहे ?'

आशा साहब : 'सादगी का यही मजा है, और दूसरे, खर्च की भी क्रियायत है ।'

(इस मजाक में लुप्त यह है, कि उमराव जान किसी कदर हसीन मशहूर थीं ।)

'टका हमसे वह जब साँगें, उन्हें चुपके से हम दे दें;

न बकबक हो, न भट्-भट् हो न किच-किच हो, न कल-कल हो ।'

अहबाब : 'क्या मिसरा कहा है !'

खाँ साहब : 'ऊपर का मिसरा भी खूब लगाया ! वही अरजल की रियायत चली आती है ।'

उमराव जान हँसते-हँसते लोटी जाती थीं ।

आशा साहब : 'अच्छा, तो अब ऐसे शेर न पढ़ें । हमारा माशूक जलील हुआ जाता है । नाजुक ख्याली सुनिए,

तेरी नाजुक कमर के बाव में चहलक बना देंगे,

वह क्या समझे यह बारीकी, तबीयत जिसकी गुठल हो ।'

खाँ साहब : 'मैं तस्लीम किये लेता हूँ । मेरी तबीयत ऐसी ही है, जैसे आग इरपाद फरमाते हैं । मगर राये-खुदा, इस चहलक के मानी समझा दीजिए ।'

आगा साहब : 'खैर खातिर है । सुन लीजिए । मुहाबिब लोग खानापुरी के बजाय नदारद (X) निदान बना दिया करते हैं । इसलिये इससे यह मतलब निकला, कि कमर नहीं है । दूसरे एक लकीर ने बीचों-बीच से दूसरी कां काट दिया है । इससे वह जाहिर हुआ, कि माशूक की कमर कटी हुई और फिर जुड़ी हुई भी है ।'

खाँ साहब : 'यह क्योंकर ?'

आगा साहब : 'अब इन बारीकी को न पूछिए । खैर, हमरत बाजेह हो, कि चहलक इत्म रियाजी में अलामत जमा की है । लुप्त यह है, कि अलामत का कोई मित्रदार नहीं होती । मतलब यह निकला, कि कमर बाधबूद न होने के, जितन के दोों हिस्सों को जोड़े हुए है ।'

अहमद : 'हजरत, वस ताबुक ख्याली की हद हो गई, जो कोई इनने इला जाना हो, वह आपके शेर समझे ।'

आगा साहब : 'इनी से तों में ऐसे-वैतों के सामने पड़ता नहीं । अक़शस, उसाद मरहूम त्रिदा न हुए; नहीं तो इन शेरों की कुछ बाद मिलती ! अब समझो बाओं में कौन रह गया है ? खैर, अब मक़ात खुद लीजिए । तीरत नायाद हो गई । कोई कदरदान ही नहीं है ।'

बस, ऐ 'क़दजाक़' बस, तबये क़दामत खेज़ को शंको,
सज़ा हो जायगा फौजे सज़ामी में जो हनचल हो ।'

अहमद : मक़ता फिर इनायत हो !'

आगा साहब ने दोगरा पढ़ा

नवाब साहब : 'बधा ज़बरदस्त तख़ल्लुस रक्ता है ।'

आगा साहब : 'साफ़ फ़रमाइयेगा । है तो कुछ ऐसा ही, मगर कुछ नाजेवा नहीं है । एक तो खानदानी एतबार से, इसलिये कि फ़िदवी के बुज़र्ग़ क़त्ब-ए-क़ के जंगलों में छूट-भार किया करते थे, दूसरे इस सबब से कि

उस्ताद मरहूम 'सारिक' (चुराने वाले) तखल्लुस फ़रमाते थे, और यह कुछ ऐसा नामनासिब न था, इसलिये उम्र भर अगले शायरों के मज़मून चुरा-चुरा के शेर मौजू फ़रमाया किये। सारा दीवान मुलाहज़ा कर लीजिए। शायद ही कोई शेर नया हो। जब क़लम की लगाम मेरे हाथ में आई, तो मैंने चोरी को अपनी शान के खिलाफ़ समझ के 'क़ज़ाक़' तखल्लुस रख लिया। कुछ न सही, इसमें एक तरह का बाँकपन तो है ! बन्दे का तो यह दस्तूर रहा है कि पुराने और नये शायरों के मज़ामीन ज़बरदस्ती हीनकर अपने कब्जे में कर लूँगा।'

नवाब साहब : 'बहुत मुबारक !'

मुशायरा ख़त होने के बाद फ़ालसे की वरफ़ जमाई गई। उसकी दो-दो क़लफ़ियाँ अहूबाव ने तोश कीं। सब अपने-अपने मकान को तशरीफ़ ले गये। इसके बाद दस्तरख़ान बिछा। मुन्शी साहब ने, मैंने और उमराव जान ने खाना खाया।

मुन्शी साहब (उमराव जान से) : 'ज़रा अपना वह मतला तो पढ़िये, जो आपने पहले पढ़ा था।'

उमराव जान : 'किसको सुनायें हाले-दिले ज़ार ऐ अदा,

आवारगी में हमने ज़माने की सैर की।'

मुन्शी साहब : 'इसमें शक नहीं, कि आपके हालात बहुत ही दिलचस्प होंगे। जब से आपने यह मतला पढ़ा है, मुझे यही ख़याल है। अगर आप अपनी-ग़्राप बीती बयान कर दें, तो लुफ़ से ख़ाली न हो।'

मैंने भी मुन्शी साहब के कलम की तारीफ़ की। मगर उमराव पहलू बचाती थीं। हमारे मुन्शी साहब को फ़िस्से-कहानियों का बड़ा शौक़ था। अलिफ़ लैला, अमीर हमज़ा की दास्तान के अलावा, बोस्ताने-ख़याल की तमाम ज़िल्दें नज़र से गुज़री हुई थीं। कोई नाविल ऐसा न था, जो आपने न देखा हो। मगर लग्नतऊ में चंद रोज़ रहने के बाद जब अहले-ज़वान की अस्ली बोट-चाल की खूबी खुली तो अक्सर नाविल-नवीसों के बेतुके फ़िस्से, वनावटी ज़वान और ताज़ुब आमेज़, बेहूदा जोश दिलाने वाली तक़रीरें आपके दिल से उतर

गई । लखनऊ के वा-मज्जाक लोगों की बोलचाल बहुत ही पसन्द आई थी । उमराव जान के इस मतला ने आपके दिल में यह खयाल पैदा किया, जिसका-इशारा ऊपर किया गया है । अलक़िस्सा, मुन्शी साहब के शौक़ और उकसाने और उभारने ने उमराव जान को मजबूर किया, और वह अपनी आप बीती कहने पर मजबूर हो गई ।

इसमें कोई शक नहीं, कि उमराव जान की तक़रीर बहुत शुस्त थी, और क्यों न हो ? अव्वल तो पढ़ी-लिखी, दूसरे आला दर्जे की रंझियों में परवरिश पाई, सहज्जादों और नवाबज़ादों की सोहबत उठाई, और महुलात शाही तक रसाई ! जो कुछ उन्होंने आखों से देख, और लोगों ने कानों से न सुना होगा ।

अपनी आप-बीती, वह जिस क़दर कहती जाती थीं, मैं उनसे छुपा के लिखता जाता था । पूरी होने के बाद मैंने मसौदा दिखाया । इस पर उमराव जान बहुत विगड़ीं । मगर क्या हो सकता था ? आख़िर कुछ समझ-बूझ कर चुप हो रहीं । खुद पढ़ा और जा-बजा जो कुछ रह गया था, उसे दुस्त कर दिया ।

मैं उमराव जान को उस ज़माने से जानता हूँ, जब उनकी नवाब साहब से मुलाक़ात थी । उन्हीं दिनों मेरा उठना-बैठना भी, अक्सर उनके यहाँ रहता था । इस आप-बीती में जो कुछ वयान हुआ है, मुझे उसके हर्क-ब-हर्क सही होने में कोई भी शक नहीं है । मगर यह मेरी जाती राय है । नाज़रीन को अख़्तियार है, जो चाहें क़यास करें ।

मिर्जा 'हसवा'

एक

सुनिए है कौन सी कहानी में,
आप बीती कहें या जग-बीती ।

सुनिये मिर्जा रसवा साहब । आप मुझ से क्या छेड़-छेड़ के पूछते हैं ? मुझे कम-नसीब की सरगुजश्त में ऐसा क्या भंजा है, जिसके आप मुशताक हैं ? एक नाशद, नामुराद, आवारा-ए-वजन, खानाए-बर्बाद, तंगे-खानदान, आरे-दो-जहाँ के हालाते सुनकर, मुझे हरगिज उम्मीद नहीं कि आप खुदा होंगे ।

अच्छा सुनिये और अच्छी तरह सुनिये ।

घाष दादा का नाम ले के, अपनी बड़ाई जताने से फ्रायदा क्या, और सच तो यह है, कि मुझे याद भी नहीं । हाँ, इतना जानती हूँ, कि फ़ैजाबाद में शहर के किनारे किसी मुहल्ले में मेरा घर था । मेरा मकान पुख्ता था । आस-पास कुछ कच्चे मकान, कुछ भोंपड़े, कुछ खपरैलें । रहने वाले भी ऐसे ही वैसे लोग होंगे । कुछ भिश्ती, कुछ नाई, धोबी, कहार । मेरे मकान के सिवा एक ऊँचा घर इस मुहल्ले में और भी था । इस मकान के मालिक का नाम, दिलावर खाँ था ।

मेरे अब्बा, बहू बेगम साहबा के मकबरे पर नौकर थे । मालूम नहीं काहे में नाम था, क्या तनख्वाह थी ? इतना याद है, कि लोग उनको जमादार कहते थे ।

दिन भर, मैं अपने भाई को खिलाया करंती थी और वह भी मुझसे इस क्रूर हिला हुआ था, कि दम भर के लिये न छोड़ता था ।

अब्बा जब शाम को नौकरी पर से आते थे, उस वक़्त की खुशी, हम भाई बहनों की, कुछ न पूछिये। मैं कमर से लिपट गई, भाई अब्बा-अब्बा करके दौड़ा, दामन से चिपट गया। अब्बा की बाँछें मारे खुशी के खिली जाती हैं। मुझको चुमकारा, भय्या की गोद में उठा लिया, प्यार करने लगे। मुझे खूब याद है, कि कभी खाली हाथ, घर न आते थे। कभी दो कतारे हाथ में हैं, कभी बताशों या तिल के लड्डुओं का दोना हाथ में है। अब इसके हिस्से लगाये जा रहे हैं। इस वक़्त, भाई बहनों में, किस मजे की लड़ाइयाँ होती थीं। वह कतारा छीने लिये जाता है। मैं मिठाई का दोना हथियाये लेती हूँ। अम्माँ, सामने खपरैल में बैठी, ख ना पका रही हैं। अब्बा इधर आ के बैठे नहीं उधर मेरे तक़ाजे शुरू हो गये, 'अब्बा अल्ला गुड़िया नहीं लाये, देखो, मेरे पाँव की जूती कैसे टूट गई है। तुम को तो ख्याल ही नहीं रहता। लो, अभी तक़ मेरा तीक़ सुनार के हाँ से बन के नहीं आया। छोटी खाला की लड़की की दूध बढ़ाई है, भाई, मैं क्या पहन के जाऊँगी? चाहे कुछ हो ईद के दिन तो, मैं नया जोड़ा पहनूँगी, हाँ, मैं तो नया जोड़ा पहनूँगी; हाँ, मैं तो नया जोड़ा पहनूँगी।'।

जब अम्माँ खाना पका चुकीं, मुझे आवाज़ दी। मैं गई, रोटी की टोकरी और सालन की पतीली उठा लाई। दस्तरख़वान बिछा। अम्माँ ने खाना निकाला। सब ने सिर जोड़ के खाना खाया। खुदा का शुक्र किया। अब्बा ने इशा की नमाज़ पढ़ी, सो रहे। सुबह को तड़के अब्बा उठे, नमाज़ पढ़ी। उसी वक़्त, मैं खड़ाक से उठ बैठी। फिर फ़रमाइशें शुरू हुईं।

'मेरे अब्बा, आज न भूलना। गुड़ियाँ ज़रूर लेते आना। अब्बा शाम को बहुत सारे अमरूद और नारंगियाँ लाना.....।'

अब्बा, सुबह की नमाज़ पढ़कर, बज़ीफ़ा पढ़ते हुए कोठे पर चढ़ जाते थे, कबूतरों को खोल के दाना देते थे। एक दो हवा में उड़ाते थे। इतने में, अम्माँ भाड़ू बुहारी से फ़रासत हो कर, खाना तैयार कर लेती थीं, क्योंकि अब्बा पहर दिन चढ़ने से पहले ही नौकरी पर चले जाते थे। अम्माँ, सीना-परोना ले के बैठ जाती थीं। मैं भय्या को ले के कहीं मुहल्ले में निकल गई, या दरवाज़े पर इमली का दरख़्त था, वहाँ चली गई। हमजोली लड़कियाँ लड़के जमा हुए। भय्या को

बिठा दिया, खुद खेल में मसरूफ हो गई। हाय, क्या दिन थे, किसी बात की फिक्र ही न थी। अच्छे से अच्छा खाती थी और बेहतर से बेहतर पहनती थी। हमजोली लड़के लड़कियों में तो, कोई मुझे अपने से बेहतर नजर न आता था। दिल खुला हुआ न था, निगाहें फटी हुई न थीं। जहाँ मैं रहती थी, वहाँ कोई मकान मेरे मकान से ऊँचा न था। सब कोई एक कोठरी या खपरैल में रहते थे। मेरे मकान में आमने-सामने दो दलान थे। सदर के दालान के आगे, खपरैल पड़ी हुई दो कोठरियाँ थीं। सामने दलान के, एक बाबरचीखाना था, दूसरी तरफ कोठे का जीना। कोठे पर एक खपरैल, दो कोठरियाँ थीं। खाना पकाने के बरतन ज़रूरत से ज्यादा थे। दो चार दरियाँ, चाँदनियाँ भी थीं। ऐसी चीजें, मुहल्ले के लोग, हमारे घर से माँगने आते थे। हमारे घर में भिखी पानी भरता था, मुहल्ले की औरतें खुद ही कुएं से पानी भर लाती थीं। हमारे अम्बा, जब घर से बर्फी पहन कर निकलते थे, तो लोग उन्हें भुक भुक कर सलाम करते थे। मेरी अम्माँ, डोली पर सवार होके महमान जाती थी। पड़ोसिनें पाँव पैदल मारी-मारी फिरती थीं।

सूरत शकल में भी, मैं अपनी हमजोलियों से अच्छी थी। अगर्चे दरहकीकत, खूबसूरतों में मेरा शुमार नहीं हो सकता, मगर ऐसी भी न थी जैसी अब हूँ। खुलती हुई चम्पई रंगत थी।

नाक नक्शा भी खैर, कुछ ऐसा बुरा न था। माथा किसी क़दर ऊँचा था। आँखें बड़ी-बड़ी थीं। बचपने के फूले-फूले गाल थे। नाक अगर्चे सुतवाँ न थी, मगर नपची और पहिया-फिरी भी न थी। डील-डौल भी सिन के मुआफ़िक अच्छा था, अगर्चे अब वैसी नहीं रही। नाजुकों में मेरा शुमार न जब था, न अब है। इस किता पर, पाँव में लाल गुलबदन का पाएजामा, छोटे-छोटे पायचों का, दुइल का नेफा, नेनून की कुर्ती, तनजेब की ओढ़नी। हाथों में चाँदी की तीन-तीन चूड़ियाँ, गले में तौक, नाक में सोने की नथनी। और सब लड़कियों की नयनियाँ चाँदी की थीं। कान अभी ताजे-ताजे छिदे थे। इनमें सिर्फ नीले डोरे पड़े थे। सोने की बालियाँ बनने को गई थीं।

मेरी शादी, मेरी फूफी के लड़के के साथ ठहरी हुई थी। मँगनी नौ बरस

के सित में हो गई थी। अब उधर से शादी का तक्राजा था। मेरी फूफी, नवाब-गंज ब्याही हुई थीं। फूफा हमारे जमींदार थे। फूफी का घर, हमारे घर से ज्यादा भरा-पुरा था। मँगनी होने से पहले, मैं कई मर्तबा, अपनी माँ के साथ वहाँ जा चुकी थी। वहाँ के कारनामे ही और थे। मकान तो कच्चा था, मगर बहुत बसीह; दरवाजे पर छप्पर पड़े थे। गाय, बैल, भैंसें बँधी थीं। घी, दूध की इफ़रात थी, अनाज की कसरत। भुट्टों की फ़सल में, टोकरों भुट्टे चले आते थे। कतारों की फाँदियाँ पड़ी हुई थीं। ऊख के ढेर लगे हुए थे, कोई कहाँ तक खाये ?

मैंने, अपने दूल्हा को भी, यानी जिसके साथ मेरी निसवत ठहरी हुई थी, देखा था, बल्कि साथ खेली थी। अक्का, पूरा जहेज़ का सामान कर चुके थे, कुछ रुपये की और फ़िक्र थी। रजब के महीने में शादी मुकर्रर हो गई थी।

रात को, अक्का अम्माँ में, जब मेरी शादी की बातें होती थीं, मैं चुपके-चुपके सुना करती थी और दिल ही दिल में खुश होती थी। बाह ! मेरे दूल्हा की सूरत, करीमन, के दूल्हा से, एक धुनिये की लड़की का नाम था जो मेरी हमसिन थी, अच्छी है। वह तो काला-काला है, मेरा दूल्हा तो गोरा गोरा है। करीमन के दूल्हा के मुँह पर क्या बड़ी सी दाढ़ी है, मेरे दूल्हा के अभी मूँछें भी अच्छी तरह नहीं निकलीं। करीमन का दूल्हा, एक मैली धोती बाँधे रहता है। माशी रँगी हुई मिर्जई पहने रहता है। मेरा दूल्हा, ईद के रोज़ किस ठाठ से आया था। सब्ज़ छोट का ऊगला, गुलबदन का पाएजामा, मसाला की टोपी, मखमली जूता। करीमन का दूल्हा तो सिर में एक फाँटिया बाँधे नंगे पाँव फिरता है।

शरज़ूँ कि मैं अपनी हालत में खुश थी और क्यों न खुश होती, क्योंकि इस से बेहतर और कोई हालत मेरे खयाल में न आ सकती थी। मुझे अपनी तमाम आरजुएँ बहुत ही जल्द पूरी होती मालूम होती थीं।

मुझे याद नहीं, कि जब तक, मैं अपने माँ बाप के घर में रही, मुझे कोई सदमा पहुँचा हो। मगर एक मर्तबा, जब मेरी उँगली का एक छल्ला, चंदा-ढेरी खेलने में जाता रहा। मूआ चाँदी का था। शायद एक आना से ज्यादा का न

होगा । यह अब कहती हूँ, उस वक्त इतनी तमीज़ कहाँ थी ? कीमत, किसी चीज़ की मुझे मालूम होती ही न थी । इस छल्ले के लिए इतना रोई, कि आँखें सूज गईं । अम्माँ से दिन भर छिपाया । आखिर, ज़रा रात को उन्होंने उँगली खाली देखी, मुझ से हाल पूछा । अब कहना ही पड़ा । अम्माँ ने एक तमाँचा मेरे मुँह पर मारा । मैं चीखें मार-मार के रोने लगी । हिचकियाँ बँध गईं । इतने में अब्बा आ गये । उन्होंने मुझे चुमकारा । अम्माँ पेर खफ़ा हुए । उस वक्त मुझे तस्कीन हुई ।

वेशक, अब्बाँ मुझे अम्माँ से ज़्यादा चाहते थे । अब्बा ने कभी फूल की छड़ी नहीं छुआई । अम्माँ ज़रा-ज़रा सी बात पर मर बैठती थीं । अम्माँ छोटे भय्या को बहुत चाहती थीं । छोटे भय्या के लिये मैंने बहुत मार खाई, मगर फिर भी मुझे, उससे बेइन्तहा मुहब्बत थी । अम्माँ की ज़िद से तो, कभी कभी दो-दो पहर, मैंने गोद में नहीं लिया । मगर जब उनकी आँख ओभल हुई, फौरन गले से लगा लिया, गोद में उठा लिया, प्यार कर लिया । जब देखा, अम्माँ आती हैं, भट से उतार दिया । अब वह रोने लगा । इन पर अम्माँ समझी थीं कि मैंने ख़ा दिया । लगीं चुड़कियाँ देने । यह सब कुछ था, मगर जहाँ मेरी उँगली दुखी और अम्माँ वेकरार होगई । खाने-पीने का होश नहीं, रातों को नींद हराम । किसी से दवा पूछती हैं, तो किसी से तावीज़ मँगाती हैं ।

मेरे जहेज़ के लिए अपने गले का गहना उतार के अब्बा के हवाले किया, इसमें थोड़ी चाँदी मिलवा के फिर से बनवा दो । दो एक अदद, जो नये बने हुए हैं, उनको उजलवा दो । घर भर के बरतनों में से दो-चार रख लिये, बाक़ी निकाल के अलग कर दिये, कि इन पर क़लई करवा दो । बल्कि अब्बा ने कहा भी, अपने आइन्दा का भी ख़याल रखो । अम्माँ ने कहा : 'ओह जी, होगा । तुम्हारी बहन ज़मींदार की बीवी हैं, वह भी तो जानें, कि भाई ने लड़की को कुछ दिया । लाख तुम्हारी बहन हैं, ससुराल का नाम भी बुरा होता है । मेरी लड़की नंगी-बूची जायेगी, तो लोग ताने देंगे ।'

मिर्जा रसबा साहब ! मैंने अपने माँ-बाप के घर और बचपन की हालत का पूरा नक्शा आपके सामने खींच दिया है । अब आप समझ सकते हैं कि

अगर मैं इस आलम में रहती तो खुश रहती या नाखुश ? इसे आप खुद कयास कर सकते हैं । मेरी नाकिस अक्ल में तो यही आता है, कि मैं इस हालत में अच्छी रहती,

इतना आवागो की जोशे-वहशत का सबब,

हम तो समझे हैं, मगर नासेह को समझायेंगे क्या ?'

मैंने अक्सर लोगों को कहते सुना है, कि जो जात की रंडियाँ हैं, उनका तो जिक्र ही क्या ? जो कुछ न करें कम है, क्योंकि वह ऐसे घर और ऐसी हालत में परवरिश पाती हैं, जहाँ मिवाय बदकारी के और किसी चीज का जिक्र ही नहीं । माँ, वहन, जिसको देखती हैं, इसी हालत में हैं । मगर यह माँ बाप की बेटियाँ, जो अपने घरों से निकल के खराब हो जाती हैं, उनको वहाँ मारे, जहाँ पानी न मिले ।

मेरा हाल, जितना मैं बयान कर चुकी हूँ, इतना ही कह के छोड़ दूँ और इसके बाद यह कह दूँ, कि बस इसके बाद मैं आबारा हो गई, तो इससे यह क्या पैदा होगा, कि कमवस्त मदमाली थी, शादी होने में देर हुई । किसी से आँख लगा के निकल आई । उसने छोड़ दिया, किसी और से आशनाई की । उससे भी न बनी, आखिर हौले हौले यही पेशा हो गया; बाकई, अक्सर ऐसा ही होता है । मैंने अपनी जिन्दगी में, बहुत सी बहू बेटियों को खराब होते देखा और सुना । इसके कई सबब भी होते हैं । एक तो यह, कि जवान हो गई, माँ बाप शादी नहीं करते । दूसरे यह, कि शादी अपनी पसन्द से नहीं होती, माँ बाप ने, जहाँ पाया भोंक दिया । न सिन का लिहाज किया, न सूरत शकल देखी, न मिजाज का हाल पूछा । मियाँ से न बनी, निकल खड़ी हुई; या जबानी में सिर पर आसमान टूटा, राँड हों गई । सब्र न हो सका, दूसरा कर लिया । या बंद सोहवत मिली, आबारा हो गई । मगर मुझ बदनसीब, नाशुदनी को बख्त-इतिफाक ने मजबूर करके, ऐसे जंगल में छोड़ा, जहाँ, सिवाय गुमराही के कोई रास्ता ही न था ।

दिलावर खाँ, जिसका मकान हमारे मकान से थोड़ी दूर पर था, मुझा डकैतों से मिला हुआ था । लखनऊ में बरसों कैद रहा । उसी

जमाने में, नहीं मालूम किसकी सिफारिश से छूट आया था। अम्बा से सख्त अदावट रखता था। वजह यह थी, कि जब फ़ौज़ाबाद से गिरफ़्तार हुआ। तो मुहल्ले से उसके चालचलन की तहकीकात के लिये लोग तलब हुए। इनमें अम्बा भी थे। आह ! बेचारे यूँ भी दिल के सादे और जुवान के सच्चे थे। इस पर तुरा यह, कि रानी वाले साहब ने उनके हाथ में क़ुरान दे के पूछा : 'वैल जमादार ! तुम सच-सच कहो यह कैसा आदमी है ?' अम्बा ने साफ़-साफ़ जो उसका हाल था, कह दिया। उन्हीं की गयाही पर, दिलावर ख़ाँ क्रौद हो गया। यह हाल, मैंने अपनी माँ से सुना था। वही कीता, उसके दिल में चला आता था। अबकी जब क्रौद से छूट के आया, तो उसने अम्बा की ज़िद पर क़वूतर पाले। एक दिन उसने अम्बा का क़वूतर मारा। लेने को गये, तो न दिया। अम्बा चार आने देते थे, वह आठ आने माँगता था। अम्बा तो तौकरी पर चले गये, झुटपुटे बक्त, खुदा जाने, मैं क्यों निकली थी। देखती क्या हूँ, इमली के नीचे खड़ा है। कहने लगा : 'चलो बेटा, तुम्हारे अम्बा पैसे दे गये थे, क़वूतर ले लो।' मैं उसके दम में आ गई। साथ चली गई। जा के जो देखती हूँ, घर में कानी चिड़िया नहीं। अकेला मकान पड़ा है। इधर मैं मकान में दाखिल हुई, उधर उसने अन्दर से कुन्डी बन्द कर ली। चाहती हूँ कि चीखूँ, उसने मुँह में ग़दड़ ठूँस दिया। मेरे दोनों हाथ रुमाल से कस दिये। इस मकान का एक दरवाज़ा दूसरी तरफ़ था। मुझे ज़मीन पर बिठा के आप गया। वह दरवाज़ा खोला और पीरबख़्श कह के आवाज़ दी। पीरबख़्श अन्दर आया। दोनों ने मिल के मुझे बैलगाड़ी पर सवार किया, कि गाड़ी चल निकली। मैं दमबख़ुद रह गई, तले की साँस तज़े, ऊपर की ऊपर। कहीं क्या, कोई बस नहीं। मूज़ी के चंगुल में हूँ। दिलावर ख़ाँ, बहली के अन्दर मुझे दवाएँ बैठा है। हाथ में छुरी है, मुए की आँखों से खून टपक रहा है। पीरबख़्श गाड़ी हाँक रहा है। बैल हैं, कि उड़े चले जा रहे हैं। थोड़ी देर में शाम हो गई। चारों तरफ़ अँधेरा छा गया। जाड़े के दिन थे। सन्नाटे की हवा चल रही थी। सूरदी के मारे, मेरी बोटो-बोटो काँप रही थी। दम निकला जाता था। आँखों से बारों जारी था। दिल में यह खयाल आता है, कि हाथ किस आफ़त में फँसी।

अब्बा नौकरी पर से आये होंगे, मुझे ढूँढते होंगे। अम्माँ सिर पीट रही होंगी। छोटा भाई खेल रहा होगा। उसे क्या मालूम, वहन किस आफत में है। माँ, बाप, भाई, मकान का दालान, अँगनाई, बावरचीखाना, सब कुछ मेरी आँखों के सामने था। यह सब ख्यालात एक तरफ़ थे, और जान का खौफ़ एक तरफ़। दिलावर खाँ, घड़ी घड़ी छुरी दिखाता था। मुझे ऐसा मालूम होता था, कि अब कोई दम में, यह छुरी मेरे कलेजे के पार होगी। गूदड़ अब मेरे मुँह में न था, मगर मारे डर के मुँह से आवाज़ न निकलती थी। इधर मेरा तो यह हाल था, उधर दिलावर खाँ और पीरबख्श में हँस-हँस के बातें हो रही थीं। मेरे माँ-बाप और मुझे पर, बात-बात पर गालियाँ पड़ती जाती थीं।

दिलावर खाँ : 'देना भाई पीरबख्श ! सिपाही के पूत बारह बरस के बाद अपना बदला लेते हैं। अब कैसा तिलमिलाता फिरता होगा।'

पीरबख्श : 'भई तुमने वेशक इस मसल को असल कर दिखाया। बारह बरस तो हुए होंगे तुम्हें क्रैद हुए।'

दिलावर खाँ : 'पूरे बारह बरस हुए भाई। लखनऊ में क्या-क्या मुसीबतें उठाई हैं। खैर, वह भी तो कोई दिन याद करेगा। यह तो मेरा पहला बार था। मैं तो उसको जान से मारूँगा।'

पीरबख्श : 'क्या यह भी इरादा है?'

दिलावर खाँ : 'तुम समझते क्या हो? जान से न मारा तो पठान का तुलम नहीं।'

पीरबख्श : 'भई तुम कौल् के सच्चे हो। जो कहोगे, कर दिखाओगे।'

दिलावर खाँ : 'देखना।'

पीरबख्श : 'और इसे क्या करोगे?'

दिलावर खाँ : 'करेंगे क्या? यहीं कहीं मार के नाले में तोप दो। रातोंरात घर चले चलो।'

यह बात सुनकर, मुझे अपनी मौत का यक़ीन हो गया। आँखों में आँसू थम गये। दिल में एक धक्का सा लगा। मनका ढल गया। हाथ पाँव डाल दिये। यह हाल देखकर भी, मुझे कट्टर को तरस न आया और एक धूँसा जोर

से मेरे कलेजे पर मारा, कि मैं विलविला गई। करीब था, कि गिर पड़ूँ।

पीरबख्श : 'इसे तो मार डालोगे और हमारा रुपया ?'

दिलावर खाँ : 'गले अले पानी।'

पीरबख्श : 'कहाँ से दोगे ? हम तो कुछ और ही समझे थे।'

दिलावर खाँ : 'घर चलो। कहीं से न हो सकेगा, तो कबूतर बेच के दे दूँगा।'

पीरबख्श : 'तुम बेअकल हो। कबूतर क्यों बेचो, हम न एक बात बताएँ ?'

दिलावर खाँ : 'कहो।'

पीरबख्श : 'अमाँ, लखनऊ में चल के, इस छोकरी के कोड़े कर लो।'

जब से अपने मरने का यक़ीन हो गया था, मुझे इन दोनों मूर्खियों की बातें कानों से अच्छी तरह सुनाई न देती थीं। यह मालूम होता था, जैसे कोई स्वाव में बातें कर रहा है।

पीरबख्श की बातें सुनकर, मेरे दिल को फिर अपनी जिन्दगी का कुछ आसरा बँधा। दिल-ही-दिल में, पीरबख्श को दुआएँ देने लगी। मगर अब यह इन्तज़ार है, कि देखूँ यह सूजी क्या कहता है।

दिलावर खाँ : 'अच्छा, देखा जायेगा अभी चले चलो।'

पीरबख्श : 'यहाँ ज़रा ठहर न जायें। वह सामने दरख़्त के नीचे आग जल रही है। थोड़ी आग ले आयें, तो हुक्का भर लें।'

पीरबख्श तो आग लेने गया, मुझे यह ख्याल पँदा हुआ कि कहीं पीरबख्श के आते आते, यह मेरा काम न तमाम करदे। जान का खौफ़ बुरा होता है। एक बारगी जोर से चीख मारी। चीख का मारना था, कि दिलावर खाँ ने दो तीन तमाचे मेरे मुँह पर कस-कस के लगाये, बोला : 'हरामज़ादी, चुप नहीं रहती, अभी छुरी भोंक दूँगा.....'

पीरबख्श (अभी थोड़ी ही दूर गया होगा) : 'नहीं भई नहीं, ऐसा काम न करना। तुम्हें हमारे सिर की कसम...अमाँ, हमें तो आ लेने दो।'

दिलावर खाँ : 'अच्छा जाओ, आग तो ले आओ।'

पीरबख्श गया और थोड़ी देर के बाद आग ले के आया। हुक्का भरा,

दिलावर खाँ को दिया ।

दिलावर खाँ (एक कश हुक्के का लगा के) : 'तो यह कितने तक बिक जायेगी ? और बेचेगा कौन ? ऐसा न हो, कहीं पकड़े जायें तो और मुश्किल हो ।'

पीरबख्श : 'इसका हमारा ज़िम्मा । हम बेच देंगे । अरे मियाँ, तुम्हारी बातें, पकड़ेगा कौन ? लखनऊ में ऐसे मामले दिन रात हुआ करते हैं । हमारे साले को जानते हो ?'

दिलावर खाँ : 'करीम ?'

पीरबख्श : 'हाँ ! उसकी रोटों इसी पर है । बीसियों लड़के लड़कियाँ पकड़ ले गया । लखनऊ में जाकर दाम खरे कर लिये ।'

दिलावर खाँ : 'आजकल कहाँ है ?'

पीरबख्श : 'कहाँ है ? लखनऊ में गोमती के उस पार उसकी ससुराल है, वहीं होगा ।'

दिलावर खाँ : 'भला लड़का लड़की कितने को बिकते हैं ?'

पीरबख्श : 'जैसी सूरत हुई ।'

दिलावर खाँ : 'भला यह कितने को बिक जायेगी ?'

पीरबख्श : 'सौ, डेढ़ सौ, जैसी तुम्हारी तक्रदीर हुई ।'

दिलावर खाँ : 'भाई की बातें, सौ डेढ़ सौ, इसकी सूरत ही क्या है ? सौ भी तो बहुत हैं ।'

पीरबख्श : 'अच्छा, इससे क्या ? ले तो चलो । मार डालने से क्या फायदा ?'

इसके बाद, दिलावर खाँ ने पीरबख्श के कान में, कुछ झुक के कहा, जिसको मैंने नहीं सुना । पीरबख्श ने जवाब दिया : 'वह तो हम समझे ही थे । तुम क्या ऐसे बेवकूफ हो ?'

रात भर गाड़ी चला की । मेरी जान साँसे में थी । मौत आँखों के सामने फिर रही थी । ताकत खत्म हो गई थी । बदन मुन्न हो गया था । आधे सुना होगा, कि नींद सूली पर भी आती है । थोड़ी देर में आँख लग गई । तरस

खुदा कर के, पीरबख्त ने वैनो का कम्बल ओढ़ा दिया । रात को कई मर्तबा चौक-चौक पड़ी थी । आँख खुल जाती थी मगर डर के मारे चुपकी पड़ी थी । आखिर एक मर्तबा, डरते-डरते, मुँह से कमली सरका के जो देखा, मालूम हुआ, मैं गाड़ी में अकेली हूँ । पर्दे से झाँक कर देखा, सामने कुछ कच्चे-कच्चे मकान हैं । एक बनिये की दुकान है । दिलावर खाँ और पीरबख्त कुछ खरीद रहे हैं । वैन सामने बरगद के दरवाजे के नीचे, भूसा खा रहे हैं, दो तीन गँवार अलाव के पास बैठे ताप रहे हैं, एक चिलम पी रहा है । इतने में, पीरबख्त ने गाड़ी के पास आके, थोड़े से भुने हुए चने दिये । मैं रात भर की भूखी थी, खाने लगी । थोड़ी देर बाद, एक लोटा पानी ला के दिया, मैंने थोड़ा सा पिया, फिर चुपकी हो के पड़ रही ।

बड़ी देर तक गाड़ी यहाँ रुकी रही, फिर पीरबख्त ने वैन जोते । दिलावर खाँ, हुक्का भर के मेरे पास आ बैठा । गाड़ी खाना हुई । आज दिन को, मुझ पर ज्यादा सखी नहीं हुई । न दिलावर खाँ की छुरी निकली, न मुझ पर घूँसे पड़े, न घुड़कियाँ । दिलावर खाँ और पीरबख्त, जगह जगह पर हुक्का भरके पीते थे । बातें होती जाती थीं । जब बातें करते-करते थक गये, कुछ गाने लगे । एक गाता है, दूसरा चुपका सुन रहा है । सुन क्या रहा है, सोच रहा है कि अब क्या बात निकालूँ । फिर कोई बात निकल आई, इस गुप्तप्ल में अक्सर ऐसा भी हुआ, कि आपस में गाली गलौच होने लगी । आस्तीनें चढ़ गईं । कमरें कसी जाने लगीं । एक गाड़ी पर से बूद पड़ता है, दूसरा वहीं गला घोटने को तैयार है । फिर किसी बात पर ढीले पड़ गये । बात गई गुजरी । फिर मिलाप हुआ, दोस्ती की बातें होने लगीं, गोया कभी लड़े ही न थे ।

एक : 'हमारे तुम्हारे बीच लड़ाई की बात ही क्या थी ।'

दूसरा : 'बात ही थी ?'

पहला : 'अच्छा, तो इस बात को जाने दो ।'

दूसरा : 'जाने दो ।'

दो

दे फड़कने की इजाजत सध्याव,
शबे-अव्वल है गिरफ्तारी की ।

गिरफ्तारी की शबे-अव्वल का हाल तो आप सुन चुके । हाय, वह बेबसी मरते दम तक न भूलूँगी । मुझे खुद हैरत है, कि मैं क्योंकर जिन्दा बची । ऐं है, क्या सख्त जान थी कि दम न निकला । दिलावर खाँ बन्दे ! दुनियाँ में तू खैर, अपनी सजा को पहुँचा, मगर क्या इससे मेरे दिल को तरकीन हुई ? मुए की बोटियाँ काट-काट कर चील-कौओं को खिलाती, तो भी मुझे आह न आती । यकीन है, कि क़ब्र में तुझ पर सुबहोशाम जहन्नुम के कुन्दे पड़ते होंगे और क़यामत के दिन, खुदा चाहे तो इससे बदतर दर्जा होगा । -

हाय, मेरे माँ-बाप का क्या हाल हुआ होगा । -कैसे तेरी जान को कलपते होंगे ।

धस मिर्जा साहब ! इतनी आज कही, चाक्री कल कहूँगी । अब मेरा दिल है, कि उमड़ा चला आता है । जी चाहता है, खूब चीखें मार-मार के रोऊँ ।

आप मेरी आवाज़ की सरगुज़स्त सुन के क्या कीजियेगा । बेहतर है, कि यहीं तक रहने दीजिये । मैं तो यह कहती हूँ, कि काश ! दिलावर खाँ मुझको मार ही डालता तो अच्छा था । मुट्ठी भर खाक से मेरी आबरू ढक जाती । मेरे माँ बाप की इज़्ज़त को धब्बा न लगता । यह दीनो-दुनिया की रसवाई तो न होती ।

हाँ, मैंने अपनी माँ को, एक बार फिर देखा था। कब उसको देखा था, इसको एक जमाना हुआ। अब खुदा जाने जीती हैं, या भर गई। सुना है, कि छोटे भाई के एक लड़का है। माशा-अल्ला चौदह-पन्द्रह वरस का। दो लड़कियाँ हैं। मेरा बे-इख्तियार जी चाहता है, कि उन सब को देखूँ। कुछ ऐसा दूर भी नहीं। मुए एक रुपये में तो आदमी फ़ैजाबाद पहुँच सकता है। मगर क्या करूँ, मजबूर हूँ। उस ज़माने में जब रेल न थी, फ़जाबाद से लखनऊ चार दिन का रास्ता था। मगर दिलावर खाँ, इस खौफ़ से कि कहीं मेरा बाप पीछा न करे, न मालूम, किन बीहड़ रास्तों से लाया। कोई आठ दिन में लखनऊ पहुँची। मुझ निगोड़ी को क्या खबर थी, कि लखनऊ कहाँ है। मगर दिलावर खाँ और पीरबख्श की बातों से, मैं इतना समझ गई थी, कि यह लोग मुझे वहीं लिये जाते हैं।

मैं, लखनऊ का नाम घर में सुना करती थी। क्योंकि मेरे नाना यहीं किसी महल की ड्योढ़ी पर सिपाहियों में नौकर थे। घर में उनका ज़िक्र होता ही रहता था। एक मर्तबा वह फ़ैजाबाद भी गये थे। मेरे लिए बहुत सी मिठाई और खिलौने ले गये थे। मैं उन्हें अच्छी तरह पहचानती थी।

लखनऊ में, गोमती के उस पार, करीम की ससुराल में, मुझे ला उतारा। छोटा सा कच्चा मकान। करीम की सास, मुई मुर्दे शूमी सी मालूम होती थी। मुझे घर में ले गई, एक कोठरी में बन्द कर दिया। सुबह होते लखनऊ पहुँची थी, दोपहर तक बन्द रही। फिर कोठरी का दरवाज़ा खुला। एक जवान सी औरत, करीम की जोरू, तीन चपातियाँ और एक मिट्टी के प्याले में चमचा भर माश की दाल और एक बधनी पानी की, मेरे आगे रख के चली गई। मुझे उस वक्त वह भी नेमत हो गई। आठ दिन हो गये थे, घर का पका खाना नसीब न हुआ था। रास्ते में चने और सत्तुओं के सिवा कुछ मिला ही न था। कोई आधी बधनी भर पानी पी गई। इसके बाद ज़मीन पर पाँव फैला के सो रही। खुदा जाने, कितनी देर सोई, क्योंकि इस अन्धेरी कोठरी में, दिन रात की तमीज़ न हो सकती थी। इस बीच कई मर्तबा मेरी आँख खुली। चारों तरफ़ अँधेरा, कोई आस न पास। फिर ओढ़नी से मुँह ढाँप के पड़ रही। फिर नींद

आ गई। तीसरी या चौथी मर्तबा जो आँख खुली, तो फिर नींद न आई। पड़ी जागती रही। इन्ने में करीम की सास, डायन की शक्ल, बकती, बुड़बुड़ाती अन्दर आई। मैं उठ बैठी।

‘लौंडिया कितनी सोती है। रात को चीखते-चीखते गला पड़ गया। भँभोड़-भँभोड़ के उठाया, साँस ही न ली। मैं तो समझी थी साँप सूँघ गया। ए लो, वह तो फिर उठ दैठी।’

मैं चुपके सुना की। जब खूब बक चुकी, तो पूछने लगी : ‘प्याला कहाँ है?’

मैंने उठा दिया। वह बाहर लेकर निकली। कोठरी का दरवाजा बन्द हो गया। थोड़ी देर के बाद करीम की जोरू आई। इसी कोठरी में एक खिड़की लगी थी, उसे खोल दिया। मुझको बाहर निकाला। एक टूटा सा खंहर पड़ा था। यहाँ आके आसमान देखना नसीब हुआ। थोड़ी देर के बाद, फिर इसी काल कोठरी में बन्द कर दी गई। आज अरहर की दाल और ज्वार का दलिया खाने को मिला।

इसी तरह दो दिन गुजरे। तीसरे दिन एक और लड़की, मुझसे सिन में दो एक बरस बड़ी, इसी कोठरी में ला के बन्द की गई। करीम, खुदा जाने, कहाँ से फुसला के ले आया था। बेचारी कैसी चहको-पहको रोती थी। मुझको तो उसका आना, गनीमत हो गया। जब वह रो-थो चुकी, तो चुपके-चुपके बातें हुआ कीं।

किमी बनिये की लड़की थी। रामदेई नाम था। सीतापुर के पास कोई गाँव था, वहाँ की रहने वाली थी। अँवरे में तो उसकी शक्ल दिखाई न दी। जब हमब मामूल, दूसरे दिन खिड़की खोली गई, तो उसने मुझे देखा और मैंने उसे देखा। गोरी-गोरी थी, बहुत खूबसूरत नाक नक्शा। डील ज़रा छरहरा था।

चौथे दिन, इस काल कोठरी से उसकी रिहाई हुई। मैं वहीं रही, फिर तनहाई नसीब हुई। दो पहर दिन, अकेली वहीं रही। तीसरे दिन रात के बक्त, दिलावर खाँ और पीरवल्ल ने आ के मुझे निकाला, अपने साथ ले के चले। चाँदनी रात थी। पहले एक मैदान, फिर एक बाजार में से होकर गुजरी। फिर

एक पुल पर आये। दरिया लहरें मार रहा था। ठंडी हवा चल रही थी। मैं कॉपी जा रही थी। थोड़ी दूर के बाद एक बाजार फिर मिला। इसमें निकल कर एक तंग गली में बहुत दूर तक चलना पड़ा। पौंव थक गये। इसके बाद एक और बाजार में आये। यहाँ बड़ी भीड़ भाड़ थी, रास्ता भी मुश्किल में मिलता था। अब एक मकान के दरवाज़े पर पहुँची।

मिर्जा रसवा साहब ! आप समझे यह कौन सा बाजार था ? यह वह बाजार था, जहाँ मेरी इज्जत फ़रोशी की दुकान थी, यानी चौक। और यह वह मकान था जहाँ से जिल्लात, इज्जत, बदनामी, नेकनामी, जर्दगई, सुन्नहई जो कुछ दुनिया में मिलता था, मिला। खानम जान के मकान का दरवाज़ा खुला हुआ था। थोड़ी दूर पर जीना था। जीना से चढ़के ऊपर गई।

मकान के सेढ़न में से होकर सदर दालान के दाहिनी तरफ़ एक बड़े दालान में खानम जान के पास गई।

खानम साहब को आपने देखा होगा। उस जमाने में उनका निज करीब पन्नाम बरम के था। क्या शानदार बुढ़िया थी। रंग तो मौंवल था, मगर ऐसी भारी-भरकम, जामा-ज़ेब औरत देखी न सुनी। बागों की आगे की लटे बिलकुल सहेद थीं। उनके चेहरे पर भली मालू होती थीं। मलमल का दोपट्टा सफ़ेद, कैमा बारीक चूना हुआ। ऊदे मरह का पाज मा, धड़े बड़े पायचे। हथों में मोटे मोटे सोने के कड़े कलाईयों में फेंसे हुए। कानों में सादी दोप्रानियाँ लाख लाव बनाव देती थीं। बिस्मिल्ला की रंगत, नाक-नक्शा, हूबहू इन्हीं का सा था, मगर वह नमक कहाँ ? उस दिन की सूरत खानम की मुझे आज तक याद है। पल्ल-गड़ी से लगी हुई कालीन पर बैठी हैं।

कँवल रीशन है, बड़ा सा नक्शी पानदान आगे खुला रखा है। पेचवान पी रही हैं। सामने एक साँवत्री सी लड़की, बिस्मिल्ला जात नाच रही है। हमारे जाने के बाद नाच मौक़फ़ हुआ। सब लोग कमरे से चले गये। मुआमला तो पहले ही तै हो चुका था।

खानम जान : 'यही छोकरी है ?'

दिलावर खाँ : 'जी हाँ।'

मुझे पास बुलाया, चुमकार के बिनाया। माथा उठा के सुरत देखी।

खानम : 'अच्छा, फिर जो हमने कह दिया मीजुद है, और दूसरी छोटी क्या हुई ?'

पीरबख्श : 'उसका तो मुआमला हो गया।'

खानम : 'कितने पर ?'

पीरबख्श : 'दो सौ पर।'

खानम : 'अच्छा, खैर। कहाँ हुआ ?'

पीरबख्श : 'एक वेगम साहब ने अपने साहबजादे के वास्ते मोल लिया है।'

खानम : 'सूरत शकल की अच्छी है। इस कदर हम भी दे निकलते, मगर तुमने जल्दी की।'

पीरबख्श : 'मैं क्या कहूँ ? मैंने तो बहुत समझाया मेरे साले ने न माना।'

दिलावर खाँ : 'सूरत तो इसकी भी अच्छी है, आगे आपकी पसन्द।'

खानम : 'खैर, आदमी का बच्चा है।'

दिलावर खाँ : 'अच्छा, जो कुछ है, आपके सामने हाजिर है।'

खानम : 'अच्छा, तुम्हारी ही ज़िद सही।'

यह कह के हुसैनी को आवाज दी। हुसैनी गदबदी सी, साँवली, अघेड़ उमर औरत सामने आ खड़ी हुई।

खानम : 'हुसैनी।'

हुसैनी : 'खानम साहब।'

खानम : 'सन्दूकचा लाओ।'

हुसैनी गई। सन्दूकचा ले आई। खानम साहब ने सन्दूकचा खोला। बहुत से रुपये दिलावर खाँ के सामने रख दिये। बाद में मालूम हुआ, सवा सौ रुपये दिये थे।

इनमें कुछ रुपये पीरबख्श ने गिन के अपने रुमाल में बाँधे, सुना है कि पचास रुपये, बाक़ी दिलावर खाँ ने अपने डब में रखे। दोनों, सलाम करके, बख़सत हुए। अब कमरे में खानम साहब हैं और वृथा हुसैनी और मैं।

ग नम साहब (हुसैनी से) : 'हुसैनी ! यह छोकरा इतने दामों की कुछ महंगी तो नहीं मालूम होती ।'

हुसैनी : 'महंगी ! मैं कहती हूँ सस्ती ।'

खानम : 'स ती भी नहीं है । खैर होगा, सुरत तो भोली भोली है । खुदा जाने किसकी लड़की है । हाय ! माँ-बाप का क्या हाल हुआ होगा । खुदा जाने, कहाँ से मुए पकड़ लाते हैं, ज़रा भी खौफ़े खुदा नहीं । बूआ हुसैनी ! हम लोग बिल्कुल बेकसूर हैं । अजाब सबाब इन्हीं मुअों की गर्दन पर होता है, हम से क्या ।' त़ाख़िर यहाँ न बिकती, कहीं और बिकती ।'

हुसैनी : 'खानम साहब ! यहाँ फिर अच्छी रहेगी । आपने सुना नहीं, बीवियों में लौडियों की क्या गते होती हैं ।'

खानम : 'सुना क्यों नहीं । ए अभी उस दिन का ज़िक्र है। सुना था, सुलतान जहाँ बेगम ने अपनी लौंडी को कहीं मियाँ से बात करते देख लिया था, सीखचों से दाग़ के मार डाला ।'

हुसैनी : 'दुनिया में जो चाहे कर लें, क़यामत के दिन इन बीवियों का मुँह काला होगा ।'

खानम : 'मुँह काला होगा ! जहन्नम के कुन्दे पड़ेंगे ।'

हुसैनी : 'खूब होगा, मुईयों की यही सज़ा है ।'

इसके बाद बूआ हुसैनी ने बड़ी मिन्नत में कहा : 'बीवी यह छोकरा तो मुझे दे दीजियेगा । मैं पालूँगी । माल आपका है, त्विदमत मैं कहूँगी ।'

खानम : 'तुम्हीं पालो ।'

अब तक बूआ हुसैनी खड़ी हुई थी । इस गुप्तसू के बाद मेरे पास बैठ गई । मुझ से बातें करने लगी ।

हुसैनी : 'बच्ची, तू कहाँ से आई है ?'

मैं (रो के) : 'बँगले से ।'

हुसैनी (खानम से) : 'बँगला कहाँ है ?'

खानम : 'ए है, क्या नहीं हो ? फ़ैजाबाद को बँगला भी कहते हैं ।'

हुसैनी (मुझ से) : 'तुम्हारे अब्बा का क्या नाम है ?'

मैं : 'जमादार ।'

खानम : 'तुम भी राजब करनी हो । भला वह नाम क्या जाने ? अभी बच्चों हैं ।'

हुसैनी : 'अच्छा, तुम्हारा नाम क्या है ?'

मैं : 'जमीरन ।'

खानम : 'भई यह नाम तो हमें पसन्द नहीं । हम तो उमराव कह के पुकारेंगे ।'

हुसैनी : 'तुना बच्ची ! उमराव के नाम पर तुम बोलना । जब बीड़ी कहेंगी 'उमराव', तुम कहना 'जी ।'

उस दिन से उमराव मेरा नाम हो गया । थोड़े दिनों के बाद, जब मैं रंडियों के गुमार में आई, लोग उमराव जान कहने लगे ।'

खानम साहब मरते दम तक उमराव कहा की । बुआ हुसैनी उमराव साहब कहती थी । इसके बाद बुआ हुसैनी मुझे अपनी कोठरी में ले गई । अच्छा-अच्छा गाना बिनाया, मिठाइयाँ बिलाई, मुँह हाथ धुलाया, अपने पास सुला रखा ।

आज रात को मैंने माँ-बाप को स्नाय में देखा । जैसे अब्बा नौकरी पर से आये हैं, मिठाई का दीना हाथ में है, छोटा भाई सामने खेल रहा है । उसको मिठाई की डलिया निकाल के दी । मुझे पूछ रहे हैं, जैसे मैं दूसरे दालान में हूँ । अम्माँ बावर्चीखाने में है । इतने में अब्बा को जो देखा, दौड़ के लिपट गई । रो-रो के अपना हाल कह रही हूँ ।

स्नाय में इतना रोई कि हिचकियाँ बँध गईं । बुआ हुसैनी ने बेदार किया । आँख जो खुली, तो क्या देखती हूँ, कि न वह घर है न दालान, न अब्बा हैं, न अम्माँ । बुआ हुसैनी की गोद में पड़ी रो रही हूँ । बुआ हुसैनी आँसू पोंछ रही है । चिराग रोशन था, मैंने देखा कि बुआ हुसैनी के आँसू भी जारी थे ।

बाजई बुआ हुसैनी बड़ी नेक जात औरत थी । उसने मुझ पर वह शपकत की कि चन्द ही रोज़ मैं अपने माँ-बाप को भूल गई और भूलती न तो करती क्या । अब्बल तो मजबूरी, दूसरे नये ढंग नये रंग । अच्छे से अच्छा खाने को ।

खाने वह, जिनके जायके से भी आगाह न थी। कपड़े वह, जो मैंने हवाब में भी न देखे थे। तीन लड़कियाँ विस्मिल्ला जान, खुरशीद जान व अमीर जान साथ खेलने को। दिन रात नाच, गाना, जलसे तमाशे, मेले, बागों की सैर। वह कौन सा ऐश का सामान था, जो मुहय्या न था।

मिर्जा साहब ! आप कहेंगे कि मैं बड़े कट्टर दिल की थी, कि बहुत जल्द अपने माँ-बाप को भूलकर खेल कूद में पड़ गई। अगर्चे मेरा सित बहुत कम था, मगर खानम के मकान में आने के साथ ही मेरे दिल को आगाही सी हो गई, कि अब मुझे उम्र भर यहीं बसर करना है। जैसे नई दुल्हन समुराल जा के समझ लेती है, कि अब मैं यहाँ एक दो दिन के लिए नहीं, बल्कि मरने भरने के लिए आई हूँ, ठीक वही हाल मेरा था। रास्ते में मुग़ डकैतों के हाथ से वह तकलीफ़ उठाई थी कि खानम का मकान मेरे लिए बहि़श था। माँ-बाप के मिलने को मैं बिल्कुल नामुमकिन समझ चुकी थी, और जो चीज़ नामुमकिन है उसकी आरजू बाली नहीं रहती। अगर्चे फैजाबाद, लखनऊ से सिर्फ़ चाण्नीम कोस है, मगर उस ज़माने में मुझे बेइन्तहा दूर मालूम होता था। वचपन की समझ में और अब में बड़ा फ़र्क़ मालूम होता है।

तीन

इक हाल में इनसाँ की बसर हो नहीं सकती,
अब रंग तबीयत का बदल जाए तो अच्छा ।

मिर्जा रुसवा साहब ! खानम का मकान तो आपको याद होगा ? किस क्रदर लम्बा चौड़ा था । कितने कमरे थे । इन सब में रंडियाँ, खानम की बेवियाँ रहती थीं । बिस्मिल्ला और खुरशीद दोनों मेरी सहोदरियाँ थीं । इनकी अभी रंडियों में गिनती न थी । इनके अलावा और दस ग्यारह ऐसी भी थीं, जो अलग-अलग कमरों में रहती थीं । हर एक का अमला जुदा था । हर एक का दरबार अलहदा होता था । एक से एक खूबसूरत थी । सब गहने पाते से आरास्ता, हर वक्त बनी ठनी, तुलवाई जोड़े पहने । सादे कपड़े, जो हम लोग रोज़मर्रा पहनते थे, वह और रंडियों को, ईद बकरीद में भी नसीब नहीं होते थे । खानम का मकान था, कि परिस्तान था । जिस कमरे में जा निकलो, सिवाय हँसी मज़ाक और गाने बजाने के कोई और चर्चा न थी । अगर्चे में क्रमसिन थी, मगर फिर भी औरत जात बड़ी होशियार होती है, अपने मतलब की बात समझती थी । बिस्मिल्ला व खुरशीद को गाते नाचते देखकर मेरे दिल में खुद बख़ुद एक उमंग सी पैदा हुई और खुद गुनगुनाने और थिरकने लगी । इसी अर्से में मेरी भी तालीम शुरू हो गई । मेरी तबीयत गाने-बजाने के बहुत ही मुनासिब पाई गई । आवाज़ भी पक्के गाने के लायक थी । सरगम साफ़ होने के बाद उस्ताद ने आस्ताई शुरू करा दी । उस्ताद जी बहुत उसूल

से तालीम देते थे। हर एक राग का सुर-व्योरा ज़बानी याद कराया जाता था, और वही गले से निकलवाते थे। मज़ाल न थी, कोई सुर कोमल से अति कोमल, शुद्ध से अशुद्ध या तीव्र से तीव्रतर हो जाय और मेरी भी हुज्जतें करने की आवत थी। पहले तो उस्ताद जी, खुदा करे उनकी रूह शर्मिन्दा न हो, टाल दिया करते थे।

एक दिन खानम साहब के सामने मैं रामकली गा रही थी, धैवत शुद्ध लगा गई। उस्तादजी ने न टोका। खानम साहब ने फिर उसी को कहलवाया। मैंने फिर उसी तरह कहा। उस्तादजी फिर भी बाख़बर न हुए। खानम साहब ने घूर के देखा। मैं उस्ताद जी का मुँह देखने लगी। उन्होंने सिर झुका लिया। फिर तो खानम ने उनको आड़े हाथों लिया।

खानम : 'उस्ताद जी ! यह क्या था ? रामकली में उच्चार धैवत से है, और वही सुर ठीक नहीं। मैं आप से पूछती हूँ, धैवत कोमल है या शुद्ध ?'

उस्ताद : 'कोमल।'

खानम : 'ओ छोकरी ! तूने क्या कहा था ?'

मैं : 'शुद्ध।'

खानम : 'फिर आपने टोका क्यों नहीं ?'

उस्ताद : 'कुछ मुझे ख्याल नहीं रहा।'

खानम : 'वाह ! ख्याल क्यों नहीं रहा। इसीलिये मैंने दोबारा कहलवाया। फिर भी आप मुँह में चुनचुनियाँ भरे बैठे रहे। आप इसी तरह छोकरियों को तालीम देते हैं ? अभी किसी समझदार के सामने इसी तरह गाती, तो वह क्या मेरे जन्म में थकता ?'

उस्ताद जी उस वक़्त तो बहुत ही शर्मिन्दा हुए, चुप हो रहे। मगर दिल में बात लिये रहे। उस्ताद जी अपने को नायक समझते थे और थे भी ऐसे ही। उस दिन खानम का टोकना उनको बहुत ही नागवार हुआ।

एक दिन ऐसा ही इत्तिफ़ाक हुआ, कि मैं सूहा गा रही हूँ। खानम भी मौज़ूद हैं। मैंने उस्ताद जी से पूछा : 'गन्धार इसमें कोमल है या अति कोमल ?'

उस्ताद जी : 'अति कोमल ।'

खानम : 'हाँ, साहब ! माशाअल्ला, यह मेरे सामने ?'

उस्ताद : 'क्यों ?'

खानम : 'और फिर आप मुझी से पूछते हैं, क्यों ? सूहा में गन्धार अति कोमल है ? भला आप तो कहिये ।'

उस्ताद : 'गन्धार कोमल लगा गये ।'

खानम : 'बस आप ही कायल होइए । खुद आप कोमल कहें और छोकरी को बहकाते हैं, या मुझे कसते हैं । साहब, मैं कुछ अतर्दी नहीं । खाक चाट के बहरी हूँ, गले से न अदा हो, मगर इन कानों ने क्या नहीं सुना ? मैं भी ऐसे वैसे घराने की शागिर्द नहीं हूँ । मियाँ गुलाम रसूल को आप जानते होंगे । इन बातों से क्या फ़ायदा ? अगर बताना है तो दिल से बताइये नहीं तो मुआफ़ कीजिये । मैं और कोई बंदोबस्त कर लूँगी । छोकरियों को शारत 'न कीजिये ।'

उस्ताद जी : 'बहुत खूब ।'

यह कह के वह उठ गये, कई दिन नहीं आये । खानम खुद तालीम देने लगी । चंद रोज़ के बाद जब खलीफ़ा जी बीच में पड़े तो कस्माकस्मी हो के मिलाप हो गया । बस उस दिन से उस्तादजी ठीक-ठीक बताने लगे । बताते न, तो करते भी क्या ? वह खानम को इतना न समझने थे । उम्र भर मुझे तो हैरत रही कि खानम क्यादा जानती हैं या उस्ताद जी । क्योंकि बहुत सी बातें जो मुझे खानम से मालूम हुईं, उस्ताद जी उनको न बता सकते थे, या जान बूझ के बताते न थे । लाख कस्माकस्मी हो चुकी थी, मगर फिर भी यह लोग गुर की बातें नहीं बताते । मुझे कुछ ऐसा शौक हो गया था कि जहाँ किसी बात में शक हुआ, या मैं समझती, उस्ताद जी टालते हैं, उस्ताद जी के जाने के बाद खानम से पूछ लेती थी । वह भी मेरे इस शौक से बहुत ही खुश होती थीं । बिस्मिल्ला को लानतियाँ दिया करती थी । बिस्मिल्ला पर बहुत मेहनत हुई, मगर टप्पा, ठुमरी के सिवा कुछ न आया । इस पर भी लय से नावाकिफ़ रहें । खुरशीद की आवाज़

अच्छी न थी । सूरत परी की, गला ऐसा, जैसा फटा बाँस । हाँ, नाचने में अच्छी थी और यही उसने सी वा भी था । उनका पुत्रा मिर्क नाव का होता था । यूँ गाने को एक आध चीज़ सी नी-सादी गा भी देती थी कि गाने का नाम हो जाये ।

खानम की नौचियों में, बेगाजान गाने में फ़र्द थीं । मगर सूरत वह कि रात को देखो तो डर जाओ । स्याह, जैसे उलटा तवा । इस पर चक्क के दाग, पाव भर क्रीमा भर दो तो समा जाय । लाल लाल आँखें, भद्दी नाक, बीच में से पिचकी हुई । मोटे-मोटे होंठ, बड़े-बड़े दाँत । मोटी, इन्तहा से ज़्यादा । इस पर ठिगना क़द । 'बीनी हथनी' की लोग फबती कसते थे । मगर क्रयामत का गला था । मालूमात बहुत अच्छी थी । मूर्छना उन्हीं के गले से निकलते सुना था । मैं जब उनके कमरे में जा निकलती, मारे फ़रमाइशों के दिक् कर देती थी ।

मैं : 'बाजी हाँ ! ज़रा सरगम तो कहना ।'

बेगा : 'सुनो ! सा, रे, गा, मा, पा, धा, नी ।'

मैं : 'मैं यह नहीं मानती । श्रुतियाँ अलग अलग कर के बताओ !'

बेगा : 'लड़की ! तू तो बहुत सताती है । अपने उस्ताद जी से नहीं पूछती ।'

मैं : 'अल्ला बाजी, तुम्हीं बतादो ।'

बेगा : 'सा रे गा मा पा धा नी । देज़ बाईस हुई । चार, तीन, दो, चार चार, तीन, दो ।'

मैं (खारारत से) : 'उई ! मैं ने नहीं गिनीं । फिर कहो ।'

बेगा : 'जा, अब नहीं कहती ।'

मैं : 'वाह ! मैं तो कहवा के छोड़ूँगी ।'

बेगा (फिर वही कह दिया) : 'ले अब न सता ।'

मैं : 'हाँ अब की गिनी । निखाव दो हैं ना ?'

बेगा : 'हाँ दो ।'

मैं : 'तो ठीक बाईस हुई । अच्छा ले, अब तीनों ग्राम कह दो ।'

बेगा : 'ले अब टहलियो । कल आइयेगा ।'

मैं : 'अच्छा तम्बूरा उठा लाऊँ, कुछ गाओ ।'

बेगा : 'क्या गाऊँ ?'

मैं : 'धनासरी !'

बेगा : 'क्या गाऊँ ? आस्ताई, ध्रुपद, तराना ?'

मैं : 'अला बाजी, ध्रुपद गाओ ।'

बेगा : 'ले, सुन,

तन की ताप तब ही मिटे जब पिया को दृष्टि भर देखूँगी ।

जब दर्शन पाऊँगी उनके तब ही जन्म अपना लेखूँगी ।

अष्ट जाम ध्यान मोहे वा को रहत है न जानूँ कब दर्शन थेकूँगी ।

जो कोऊ प्रभु प्यारे से मिलावे वा के पावन मैं सीस टेकूँगी ॥

खानम जान की नौचियों को सिर्फ नाच गाने की ही तालीम नहीं दी जाती थी । बल्कि लिबने पढ़ने के लिए एक मक़तब भी खुला हुआ था । एक मौलवी साहब भी तौकर थे । दस्तूर के मानिन्द, मैं भी मक़तब में भेजी गई । मौलवी साहब का वह नूरानी चेहरा, सफ़ेद कतरवाँ दाढ़ी, सूफ़ियना लिबास, हाथ में उम्दा फ़ीरोजे और अकीक की अँगूठियाँ, खाक़े पाक की तसवीह, हरौती की ज़रीब, चाँदी का शाम बहुत ही नफ़ीस, डेढ़लमा हुक्का, अफ़यून की डिबिया-प्याली, गरज़ कि सब तबस्कुत आज तक नज़र में हैं । क्या सुथरा मिज़ाज था । वज़ादार भी ऐसे, कि किसी ज़माने में, वूआ हुसैनी से इत्तिफ़ाक से कुछ रस्म हो गया था, आज तक उसे निवाहे जाते थे । वूआ हुसैनी भी उन्हें दोनों दुनिया का शौहर समझती थीं । बुढ़िया बुड़डे में इस मज़े की बातें होती थीं, कि जवानों को हौसला होता था । मक़ान कहीं ज़ैदपुर की तरफ़ था । घर पर खुदा के दिये गाँव गाँव, मक़ान, बीबी, जवान लड़के लड़कियाँ, सब कुछ मौज़ूद था । मगर वह खुद जब से लखनऊ में तहसीले-इल्म के लिये तशरीफ़ लाये, यहीं रहे । शायद दो चार मर्तबा गये होंगे । अबसर, अज़ीज़ मिलने को यहीं चले आते थे । घर से कभी-कभी कुछ आया भी करता था । दस रुपया खानम साहब देती थीं । यह सब वूआ हुसैनी को मिलता था । खाने पीने, हुक्का, अफ़यून की ताक

बूआ हुसैनी लेती थीं । तहवीलदार बूआ हुसनी थीं । कपड़ा, बूआ हुसैनी बनवा देती थीं । खानम साहब भी मौलवी साहब को बहुत मानती थीं, बल्कि मौलवी साहब की वजह से बूआ हुसैनी की इज्जत करती थीं ।

यह तो आपको मालूम है, कि मेरी परवरिश बूआ हुसैनी ने अपनी जिम्मे ली थी, इसलिये मुझ पर मौलवी साहब की तवज्जोह खास थी । यह तो मैं अपनी जवान से नहीं कह सकती, कि मुझे क्या समझते थे । अदब से डुप हूँ, और लड़कियों से ज्यादा मुझ पर ताकीद थी । मुझ जैसी उजड़्ड व गँवार को उन्होंने आदमी बना दिया । यह उन्हीं की जूतियों का सदका है, कि जिस अमीरो-रईस की मद्फिल में गई, हैसियत से ज्यादा मेरी इज्जत हुई । इन्हीं की बदौलत, आप ऐसे लायक फायक साहबों के जलसे में, मुँह खोलने की जुरअत हुई । शाही दरबारों में शिरकत का फल हासिल हुआ । आला दर्जे की बेगमात के महल में गुजर हुआ ।

मौलवी साहब ने बहुत ही मेहरबानी से मुझे पढ़ाया था । अलिफ बे, खतम होने के बाद क़रीमा, मामोकीमा व महमूदनामा पढ़ा के आमद नामा याद करा दिया । इसके बाद गुलिस्ताँ शुरू करा दी । दो सतरें पढ़ाते थे । सबक याद कराया जाता था, खास तौर से अशआर । लफ़्ज़ लफ़्ज़ के मानी, फ़िकरे की तरकीब नोके-जबाँ थी । लिखने पढ़ने पर भी मेहनत ली । इमला बुरस्त कराया गया । खत लिखावाये गये । गुलिस्ताँ के बाद और क़ितावें, फ़ारसी की, पानी हो गई थीं । सबक इस तरह याद होता था, जैसे आमोल्ता पढ़ाया जाता है । अरबी की व्याकरण और दो एक रिसाले मन्तक के पढ़े । सात आठ बरस मौलवी साहब के पास पढ़ती रही । शायरी के शौक की इन्तिदा और इन्तहा से आप खुद वाकिफ़ हैं । इसके बयान की कोई ज़रूरत नहीं ।

चार

हम नहीं उन में जो पढ़ लेते हैं तोते की तरह,

मकतबे-इश्को-वफ़ा तजुर्वा आमीज़ भी था ।

मकतब में मुझ समेत तीन लड़कियाँ थीं, और एक लड़का था । गौहर मिर्जा । हृद का शरीर और बदज़ात । सब लड़कियों को छेड़ा करता था । किसी को मुँह चिढ़ा दिया, किसी के छुटकी ले ली । इसकी चोटी पकड़ के खींच ली, उसके कान दुखा दिये । दो लड़कियों की चोटी एक में जकड़ दी । कहीं कलम की नोक तोड़ डाली, कहीं किताब पर दवात उलट दी । शरज़कि उसके मारे न.क में दम था । लड़कियाँ भी खूब धपियाती थीं, और मौलवी साहब भी बाकई करारी सज़ा देते थे, मगर अपनी आन्ती बानी से न चूकता था । सब से बड़ के मेरी गत बनाता था, क्योंकि मैं सब से अनेली और रंगीली सी थी, और मौलवी साहब के दबाव में भी रहती थी । मैंने मौलवी साहब से कह कह के मार पिटवाई, मगर बेगैरत किसी तरह बाज़ न आया । आखिर मैं भी चुगलियाँ खाते खाते आजिज़ आ गई । मेरी फ़रियाद पर, मौलवी साहब उसको बहुत ही बेदर्दी से सज़ा देते थे । यहाँ तक कि खुद मुझे तरस आ जाता था ।

गौहर मिर्जा के इस मकतब में आने का सबब भी वृथा हुआ ही था । नवाब सुलतान अली, एक बड़े आली खानदान रहस थे । तोप दरवाज़ा में रहते थे । उनसे और वक्त्रो डोमनी से रस्म था । इन्हीं से यह लड़का पैदा हुआ । अगर्चे वक्त्रो और नवाब साहब में मुलाकात बन्द हुए एक मुद्दत गुज़र गई थी,

मगर दम रूपया माह बसाह, लड़के की परवरिश के दिये जाते थे, और बेगम साहब ने चोरी छिपे, कभी कभी बुला के देख भी लिया करते थे । बच्चों काजी के बाग की रहने वाली थी । वहीं बूया हुसैनी के भाई का घर था । बिड़की दरग्यान में थी । गौहर मिर्जा बचपने ही से जात शरीफ थे । तमाम मुहल्ले का नाक में दम था । किसी के घर में खेला फैंक दिया । किसी लड़के ने चरकवों का पिंजरा देखने को मांगा, उसने दे दिया, आगने बिड़की की तीली खोल दी, सब चरकवें फुर्र से उड़ गये । गरजकि तरह तरह की तक्रलीफ देते थे । आखिर, माँ ने आजिज आ के, मुहल्ले की मस्जिद में एक मौलवी साहब के पास बिठा दिया । यहाँ भी आपने अपने हथकंडे न छोड़े । तमाम हम-मक़तब लड़कों को तंग करना शुरू कर दिया । इसके कुर्ते में मैदक छोड़ दिया, उसी टोरी फाड़ डाली । एक लड़की की जूती उठा के कुएँ में डाल दी ।

एक दिन मौलवी साहब नमाज़ पढ़ रहे थे, हजरत ने उनका नया चड़वाँ जूता हाँज में पैरा दिया । खुद बैठे हुए सिर देख रहे हैं । इतने में कही मौलवी साहब सिर पर पहुँच गये । अब तो गौहर मिर्जा की खूब मरम्मत हुई । मौलवी साहब ने सारे तमाँचों के मुँह लाल कर दिया और कान पकड़े हुए बच्चों के घर पर ले आये । दरवाज़े पर से पुकार के कहा : 'लो, साहब अपना लड़का लो । हम इसे न पढ़ायेंगे ।' यह कह के मौलवी साहब तो उधर गये, गौहर मिर्जा मजलूम सूरत बनाये हुए, रोता हुआ घर में आया । इस वक्त इत्तिफाक से, बूया हुसैनी बैठी हुई, बच्चों से बातें कर रही थी । लड़के का जो यह हाल देखा, आपको बहुत ही तरस आया । लड़के के करतूतों से तो आगाह नहीं, मौलवी साहब को बुरा भला कहने लगीं ।

बूया हुसैनी : 'ऐ है, मौलवी काहे को, मुआ क़साई है । लड़के का मुँह सारे तमाँचों के सुजा दिया । ऐ लो, कान भी लहू लुहान कर दिये । बीबी, ऐसे मौलवी से कोई न पढ़वाये । आखिर हमारे मौलवी साहब भी तो पढ़ाते हैं । कौसा चुमकार के, दुलार से पढ़ाते हैं ।

बच्चों ने छूटते ही कहा : 'फिर, बूया हुसैनी इसको बला से अपने मौलवी

साहब ही के पास ले जाओ ।'

बूआ हुसैनी : 'ले तो जाऊँ मगर दूर बहुत है ।'

बत्तो : 'तुम्हारे भाई के साथ सुबह को भिजवा दिया करूँगी । शाम को बुला लिया करूँगी ।'

मौलवी साहब से कुछ पूछता न था । इसलिये, कि बूआ हुसैनी को अपनी हुस्ने खिदमत पर भरोसा था । जानती थीं, कि मौलवी साहब इन्कार तो करेंगे नहीं ।

दूसरे दिन अलीवख्त, बूआ हुसैनी के भाई का नाम था, गौहर मिर्जा को साथ लिये, मिठाई का खान सिर पर रखे, बूआ हुसैनी के पास पहुँचे । बूआ हुसैनी ने खुशी खुशी मिठाई तक्रसीम की । लड़के को मौलवी साहब के पास बिठा दिया ।

गौहर मिर्जा, सबसे ज्यादा मुझी को सताता था । दिन रात, दाद बेदाद का शोर रहता था । मौलवी साहब ने उसको बहुत मारा मगर उसने मुझे मताना न छोड़ा । इसी तरह कई बरस गुजर गये । आखिर मेरे उसके सुलह हो गई । या यूँ कहिये, कि मैं उसके सताने की आदी हो गई ।

गौहर मिर्जा के और-मेरे सित में कुछ ही फर्क होगा । शायद वह मुझसे दो एक साल बड़ा हो । जिस जमाने का हाल बता रही हूँ, मेरा सित कोई तेरह बरस का होगा और गौहर मिर्जा को चौदहवाँ-पन्द्रहवाँ साल था ।

गौहर मिर्जा के सताने से अब मुझको मज्जा आने लगा । उसकी आवाज बहुत अच्छी थी । झुमनी का लड़का था, कुदरती लयदार भाव बताने में माहिर, बोटी बोटी फड़कती थी । इधर मैं लय सुर से आगाह । जब मौलवी साहब मक़तब में न होने थे, खूब जमसे होते थे । कभी मैं गाने लगी, वह बताने लगता । कभी वह गा रहा है, मैं ताल दे रही हूँ । गौहर मिर्जा की आवाज पर और रंडियाँ भी फ़रेपता थीं । हर एक कमरे में बुलाया जाता था । उसके साथ मेरा जाना भी एक ज़रूरी बात थी, क्योंकि बग़ैर मेरी उसकी संगत के, लुत्फ़ न आता था । सब से ज्यादा अमीर जान उसके गाने पर राश थीं । मिर्जा साहब ! आपको तो अमीर जान माद होगी ।

रुसवा : 'याद है, कहे जाओ ।'

उमराव जान : 'अमीर जान का वह जमाना, जब मुतपुखररुद्दौला बहादुर की मुनाजिम थीं, अल्ला रे, जोवन के ठाठ ! वह उठती हुई जवानी.

खिलती खिलती वह चम्पई रंगत

भोली भोली वह मोहनी सूरत

बाँकी बाँकी अदायें होश रुवा

तिछीं तिछीं निगाहें कहर-खुदा

बूटा सा कद छरहरा बदन, नाजुक नाजुक हाथ पाँव ।'

रुसवा : 'अब तो जब मैंने उन्हें देखा है, अलगनी पर डालने के लायक थीं । ऐसी बुरी सूरत हो गई थी, कि देखा नहीं जाता था ।'

उमराव जान : 'कहाँ देखा था ?'

रुसवा : उन्हीं के घर में देखा था, जिनके कमरे के सामने, शाह साहब गेरुवे कपड़े पहने, हजार दाने की तसवीह हाथ में लिये, खड़े रहते थे । उधर से जो निकलता था, उसको सलाम कर लेते थे । कभी किसी से सवाल नहीं करते थे ।'

उमराव जान : 'समझ गई । वह शाह साहब उनके आशिकों में थे ।'

रुसवा : 'जी हाँ । क्या मैं नहीं जानता ?'

उमराव जान : 'अच्छा ! तो आप वहीं रहते हैं ?'

रुसवा : 'उन की मुसाहबत में हूँ ।'

उमराव जान : 'और उन का क्या हाल है ?'

रुसवा : 'वह एक हकीम साहब पर मरती हैं ।'

उमराव जान : 'कौन हकीम साहब ?'

रुसवा : 'आप नहीं जानतीं । नाम भी बता दूँगा, तब भी आप न समझेंगी, फिर क्या फ़ायदा ?'

उमराव जान : 'खैर, कुछ बता दीजिये । मैं समझ जाऊँगी ।'

रुसवा : 'वह नखास...'

उमराव जान : 'खूब जानती हूँ । यही अमीरजान उस जमाना में ऐसी थीं,

कि लोग उनकी एक नज़र देखने की आरजू रखते थे । मिजाज में भी वह तमकनन थी, कि ऐसे बैलों का तो जिक्र ही क्या है, अच्छे अच्छों की बुआ कबूल न होती थी । ठाठ भी ऐसे ही थे । चार चार महारियाँ साथ, एक गुड़गुड़ी लिये है, एक के हाथ में पंजा है, एक लुटिया लिये है, एक के पाम खासदान है । खिदमतगार, बर्दियाँ पड़ने सवारी के साथ दीड़े जाते हैं ।

अमीरजान गौहर मिर्जा के गाने पर मरती थीं । खुद गाना बाना जानती नहीं थीं, मगर गाना सुनने का बड़ा शौक था ।

गौहर मिर्जा बचपने ही से रंडियों का विलौना था । हर एक उस पर दम देती थी । मुरत जबल भी प्यार करने के क़ाबिल थी । रंग तो किसी क़दर माला था, मगर नाक नाकशा कामन का पाया था । इस पर तमक और जाना ज़ेबी, घोखी शरारत, कोई बात.....

रुसवा : 'क्यों न हो, किस माँ का बेटा था ?'

उमराव जान : 'आहा ! तो क्या आप ने वज़ो को देवा था ?'

रुसवा (मुस्कराते हुए) : 'जी हाँ, आप यही क़्याम कर लीजिये ।'

उमराव जान : 'मिर्जा साहब, आपके मन्ज़ाक भी क्या दरपर्दा होते हैं ।'

रुसवा : 'ख़ैर ! आपने तो पर्दा फ़ाश कर दिया ।'

उमराव जान : 'तो अच्छा, अब थोड़ी देर मन्ज़ाक ही रहे । मेरी सरगुजस्त को आग लगाइये ।'

रुसवा : 'ग़ज़क के लिये शब-भर बाकी है । आप अपना किस्सा कहिये ।'

उमराव जान : 'देखिये, दूसरी हुई । अच्छा सुनिये ।'

सुबह से दस ग्यारह बजे तक तो मौलवी साहब के पास से किसवी मजाब थी, कि दस भर के लिये कहीं खिसक जाये । इसके बाद मौलवी साहब खाना खाने जाते थे । इस वक़्त हमको क़ुरमत मिलती थी । फिर एक एक कमरा है, और हम हैं । आज अमीर जान के पास, कल जाफ़री के कमरे में, परसों बब्बन के यहाँ । फिर जहाँ जाओ, खातिर मदारत, मेवा मिठाइयाँ, हुक्क - पान ।'

रुसवा : 'आप बचपन ही से हुक्का पीती हैं ?'

उमराव जान : 'जी हाँ ! गौहर मिर्जा की देना वैसी, मुझे भी हवस हुई, चौकिया पीली थी, फिर तो निगोड़ी लत हो गई ।'

रुसवा : 'गौहर मिर्जा साहब तो चंझ भी पीते थे, शजब नहीं, आपने भी इस में उनकी हाम की हो ।'

उमराव जान : 'बुदा ने इस से तो आज तक बचाया, मगर हाँ, अफ़यून की कगम नहीं खाी । वह भी अब शुरू की है । कर्वल-ए-मुअल्ला से आने के बाद नज़्मे की शिद्दत हुई, आधे दिन चुकम रहता था । हकीम साहब ने कहा, 'अफ़यून खा लो, खाने लगी ।'

रुसवा : 'और वह चीज़ तज़ले की रोकने वाली ।'

उमराव जान : 'अब उसका ज़िक्र न किजिये ।'

रुसवा : 'क्या तौबा करली ?'

उमरावो : 'मूढ़न में ।'

रुसवा : 'वाकई, कगमरग क्या बुरी चीज़ है । अपना तो यह हाल है :

'बाद तौबा के भी है, दिल में यह हमेशा वाकई,

दे के कसमें कोई इक ज़ाम पिला दे हमको ।'

उमराव जान : 'हाय, क्या शेर कहा है मिर्जा साहब । कममें दिलाने को तो मैं मौजूद हूँ, पीने न पीने का आपको अस्तियार है ।'

रुसवा : 'आप भी शुशल कीजियेगा !'

उमराव जान : 'तौबा !'

रुसवा : 'तौबा !'

अब भी है, हवाँए सदै भी है,

फिर वह यादश बख़्शैर याद आई ।

उमराव जान : 'जम्हाइयाँ आने लगीं । निल्लाह इस ज़िक्र को जाने दो ।

रुसवा : 'जाने दीजिए ।'

उमराव जान : 'मजाक़ से भी मुआफ़ रखिए ।

अब न हम सुँह लगायेंगे उसको,

याद आई तो ख़ैर याद आई ।'

रुसवा : 'बल्लाह, उमराव जान ! क्या शेर कहा है ।'

उमराव जान : 'तस्लीम, शराब के जिक्र की यह तासीर है,

जाहिदो ! आज हमको फिर यह सौ,
जिससे है तुमको बैर याद आई ।'

रुसवा : 'आहा, हा हा, क्या काफिया निकाला है, और कहा भी खूब है !

काबा से फिर के हम हुए गुमराह,
फिर वही राहे-दैर याद आई ।'

उमराव जान : 'ए क्या कहना, यह 'काबा से फिर के' क्या खूब कहा है ।

मिर्जा साहब इसे मतला न कर दीजिए,

फिर के काबा से सैर याद आई,
फिर वही राहे-दैर याद आई ।'

रुसवा : 'तब ।'

उमराव जान : 'यह शेर मुलाहज्रा हो,

हमको विनत-उल-अनब से शिकवा है,
क्यों हमें उन बगैर याद आई ।'

रुसवा : 'मैं तो कहता हूँ कि तबीअत आज ज़ोरों पर है । अच्छा, यह शेर
मुन लीजिए और फिर अपना किस्सा दोहराना शुरू कीजिए,

हवा भी, अब भी, गुलजार भी, शराब भी हो,
यह सब भी हो, मगर अगला सा वह शबाब भी हो ।

उमराव जान : 'वाह मिर्जा साहब ! आपने तो दिल को मुर्दा कर दिया ।
चैर, इसी तरह मेरी ज़िन्दगी के कई बरस, खानम के मकान पर गुजरे । इस
बरम्यान में कोई ऐसा वाक्या नहीं गुजरा, जिसका बयान जरूरी हो ।

हाँ, खूब याद आया । विस्मिल्ला की मिस्सी बड़े धूम से हुई । मेरी आँखों
के देखते, शाही से लेकर अब तक फिर वैसी मिस्सी नहीं हुई । दिलाराम की
बारादरी इस जलसे के लिए सजाई गई थी । अन्दर से बाहर तक रोशनी थी ।
शहर की रंडियाँ, झम, डाड़ी, कश्मीरी भाँड, सब तो थे ही, दूर दूर से डेरादार
तवाइफें बुलाई गई थीं । बड़े-बड़े नामी गवैये दिल्ली तक से आए थे । रात

दिन, गाने बजाने की सोहबत रही । खानम ने भी जैसा दिल खोल के हिस्से तकसीम किए हैं, उसका आज तक शोहरा है । विस्मिल्ला, खानम की इकलौती लड़की थी । जो कुछ न होता, कम था । नवाब छद्मन साहब ने, अपनी दादी नवाब उम्दा-तुल-खाकान बेगम का विसाँ पाया था । बहुत ही कमसिन नवाब-जादा था । खानम ने खुदा जाने किन तरकीबों से कम्पा मारा । बेचारे फँस ही तो गए । पच्चीस तीस हजार रुपये, नवाब साहब के, इस जलसे में खर्च हुए । इसके बाद विस्मिल्ला नवाब साहब की मुलाज्जम हुई । हरवकत चाहते थे ।

मिर्जा रसवा साहब ! जो बातें आप मुझसे पूछते हैं, उनका मेरी जवान से निकलना सख्त मुश्किल है । यह सच है, कि रंडियाँ बहुत बेबाक होती हैं, मगर जमाना खास होता है ।

सिन का तकाजा भी कोई चीज है । जोशे-जवानी में, जो बातें अपनी हृद से गुज़र जाती हैं, सिन उतर कर उनमें कमी जरूर होना चाहिए, ताकि परहेज कायम रहे । आखिर रंडियाँ भी औरत जात हैं । इन बातों के पूछने से आपको क्या फ़ायदा ?

रसवा : 'कुछ तो फ़ायदा है, जो मैं इसरार करके पूछता हूँ । अगर आप पढ़ी लिखी न होतीं, तो आपके यह सब उज्र काबिले मुनवाई होते । पढ़े लिखों को ऐसी बेजा शर्म नहीं चाहिए ।'

उमराव जान : 'उई ! तो क्या पढ़ने से आँखों का पानी ढल जाता है ? यह आपने खूब कही ।'

रसवा : 'अच्छा अच्छा, तो आप कहिये, फ़जूल बातों से मेरा वक़्त न जाया कीजिए ।'

उमराव जान : 'कहीं किसी अखबार में न छपवा दीजियेगा ।'

रसवा : 'और आप क्या समझी हैं ?'

उमराव जान : 'हाय फ़ज़ीहत ! तौबा कीजिये, मुझे भी आप अपनी तरह रसवा करेंगे ।'

रसवा : 'खैर, अगर मेरे साथ आप रसवा होंगी तो कोई हरज नहीं ।'

रसवा से क्यों मिलें हों, सुहृद्वत् जता के तुम,
छोड़ूँगा श्रद्धा, न मैं, तुम्हें रसवा किसे बगैर ।'
उमराव जान : 'नोज आपसे कोई सुहृद्वत् करे ।

जाहिद से गुप्तगू हो, कि नासह से बहस हो,
बनती नहीं है जिक्र, किसी का किए बगैर ।'
रसवा : 'फिस्का बेर है ।'

उमराव जान : 'यह आप मुझसे क्यों पूछा करते हैं ?'
रसवा : 'हाँ समझा । तो कहिये आपने भी यह राजल सुनी है ।'
उमराव जान : 'जाते हैं जान बेच के बाज़ारे-इश्क में,

हम आयेंगे न हुस्न का सौदा किए बगैर ।'
रसवा : 'और वह बेर याद है ? तकाज़ा किए बगैर ।'
उमराव जान : 'श्रद्धा हो या कि कौल, वह ऐसे हैं नादहन्द,
भिलता नहीं कुछ उनसे तकाज़ा किए बगैर ।'

रसवा : 'और कोई बेर याद है ?'

उमराव जान : 'और तो कोई याद नहीं आता ।'

रसवा : 'यह तो बहुत बड़ी राजल थी, देखना, कहीं नकल पड़ी हो तो
मुझे दिखाता ।'

उमराव जान : 'उन्हीं से न मँगवा लो ।'

रसवा : 'खुद जा के लिख लाऊँ तो मुमकिन है, वह हर्गिज़ न लिखेंगे ।'

उमराव जान : 'यह भी कोई बात है ?'

रसवा : 'जी हाँ, आपको नहीं मालूम, मसविदे के सिवा राजल साफ करने
तक की कसम है ।'

उमराव जान : 'अच्छा, एक दिन हम और आप दोनों चलें । हाँ, एक बेर
और याद आया,

हर चन्द इसमें आप ही, बदनाम क्यों न हों,
बाज़ आयेंगे, न वह मेरा चर्चा किए बगैर ।
और यह भी सुनिये,

गैरों को है, सितम के तक्राजे का हौसला,
छोड़ेंगे यह, न इश्क को रसवा किए और ।'

रसवा : 'मेरी भी गजल इसी तरह में थी, मगर खुदा जाने क्या हुई, सिर्फ मकता याद रह गया है ।'

उमराव जान : 'वाकई खूब कहा है, मगर इसमें आपके तखल्लुस ने खान बुरफ पैदा कर दिया है ।'

रसवा : 'तखल्लुस का जिक्र न कीजिये, एक इनायत-फरमा की इनायत से, शहर में अब कई रसवा मौजूद हैं । लोग ख्वाहमख्वाह अपने अच्छे नामों से तखल्लुस छोड़ के रसवा हुए जाने हैं । वह तो कहिये मेरा नाम नहीं जानते, नहीं तो क्या अजब है लोग नाम भी बदल डालें । मगर मैं तो खूश हूँ । इसलिए कि अंग्रेजी रस्म के मुअफिक, नाम बेटों का नाम एक ही होता है । यह सब मेरे खहानी बेटे हैं । जिस क्रूर तरफ़ तरफ़ी करेगी, मेरा नाम रोज़ान होगा । ले, अब टालिये ना । जो कुछ मैंने पूछा है, वह कहता ही पड़ेगा ।'

उमराव जान : 'क्या ज़रूरत है ? क्या बेगमों की जाने आप पूछते हैं ।'

रसवा : 'व्याह : रातों में गानियाँ गाने से ज्यादा बेगमों न होगी ।'

उमराव जान : 'आपके लखनऊ में तो रंडियाँ गालियाँ नहीं गयीं । हमनियों अलबत्ता गाती हैं, वह भी औरतों में । देश की रंडियों को गाना पड़ता है मर्दों में । वाकई मिर्जा साहब, शहर या देहान, यह रस्म तो कुछ अच्छी नहीं ।'

रसवा : 'आपके कहने से अच्छी नहीं है । हमने इन आँखों से देखा है, और और कानों से सुना है । अच्छे अच्छे शरीफ़ मर्द आदमी, औरतों में खुश के शीक़िया गालियाँ सुनते हैं । माँ वहनें गिनी जा रही हैं, और यह खुश हैं । बाँधें बिली जाती हैं । आज खुदा ने यह दिन दिखाया । काश, खुदा यह दिन न दिखाता ! इसके अलावा वाराण की रात भर और सुबह को जो बेहूदगियाँ, बाइस्मत बहू-बेटियों में होती हैं, उसका जिक्र भी क्या ? खैर, इन बातों को रहने दीजिये, अपनी बीबी कहिये । हम कोई मसजहे-कौम नहीं, जो इन बातों को लेकर नुक्ता चीनी करें ।'

उमराव जान : 'आप न मानियेगा । ले सुनिये ।'

जब से बिस्मिल्ला की मिस्सी हुई, और खुरशीद जान और अमीर जान के कारखाने देखे, मेरे दिल में भी एक खास किस्म की उमंग पैदा हुई। मैंने देखा कि एक खास रस्म के अर्दा हो जाने के बाद, जिससे मैं बिल्कुल नावाकिफ़ थी, बिस्मिल्ला से बिस्मिल्ला जान और खुरशीद से खुरशीद जान हो गई। देवाक़ी की सनद हासिल हो गई। आज़ादी का खिलअत मिल गया। अब यह लोग मुझ से अलहदा हो गये। मैं उनकी निगाहों में हकीर सी मालूम होती थी। वह मर्दों के साथ बेतकलुफ़ हँसी मज़ाक करने लगी थीं। उनके कमरे जुदा जुदा सजा दिये गये थे। निवाड़ के पलंग, डोरियों से कसे हुए थे। फ़र्श पर सुथरी चाँदनी खिंची हुई। बड़े बड़े नक्शी पानदान, हुस्न-दान, खासदान, उयालदान, अपने अपने करीनों से रखे हुए। दीवारों पर बड़े बड़े आईने, उम्दा उम्दा तस्वीरें, छत में छतगीरियाँ लगी हुई, जिनके दरम्यान एक छोटा सा भाड़। इधर उधर उम्दा हाँडियाँ। सरे-शाम से दो कँवल रौशन हो जाते हैं। दो दो महिरियाँ, दो दो खिदमतगार, हाथ बाँधे खड़े हैं। ख़ूबसूरत नौजवान रईसज़ादे, हर वक़्त दिल बहलाने को हाज़िर। चाँदी की गुड़गुड़ी मुँह से लगी हुई है, सामने पानदान खुला हुआ है, एक एक को पान लगा के बेती जाती हैं, चुहलें होती जाती हैं। उठती हैं, तो लोग बिस्मिल्ला कहते हैं, चलती हैं, तो लोग आँखें बिछाये देते हैं। यह हैं, कि किसी की परवाह ही नहीं करतीं।

जो है, इन्हीं के हुक्म का तावे है। हुक्मत भी वह, कि जमीन आसमान टल जाये, मगर इनका कहना न टले। फ़रमाइशों का तो जिक्र ही क्या, बिना माँगे लोग कलेजा निकाल के दिये देते हैं। कोई दिल हथेली पर रखे हुए है, कोई जान जुबान करता है। यहाँ किसी की नज़र ही कबूल नहीं होती। कोई बात नज़र में नहीं समाती। बेपरवाही यह, कि कोई जान भी दे दे, तो इनके तई कोई बात नहीं। ग़रूर ऐसा, कि सात ज़हानों की सल्तनत इनकी ठोकर पर है। नाज़ वह, जो किसी से उठाय़ा न जाये, मगर उठाने वाले उठा ही देते हैं। अन्दाज़ वह, जो मार ही डाले, मगर मरने वाले भी मर ही जाते हैं। इधर इसको रला दिया, उधर उसे हँसा दिया। किसी के कलेजे में चुटकी ले ला

किसी का दिल, तलवों से मसल डाला । बात बात में रूठी जाती हैं, लोग मना रहे हैं । कोई हाथ जोड़ रहा है, कोई मिन्नत कर रहा है । क़ौल किया और मुकर गईं, क़सम खाई और भूल गईं । महक़िल भर में सबकी निगाह इनकी तरफ़ है, यह आँख उठा के भी नहीं देखतीं । फिर जिधर देख लिया, उधर सब देखने लगे । जिस पर इनकी निगाह पड़ती है, उस पर हजारों निगाहें पड़ती हैं । रश्क के मारे लोग जले जाते हैं, और यह जान जान के, जला रही हैं । और लुत्फ़ यह, कि दिल में कुछ नहीं, वह भी हेच यह भी हेच, है तो फ़कत बनावट । अगर वह बेचारा, इस फ़रेब में आ गया, फिर क्या था, पहले बज़ाहिर खुद मरने लगीं,

आजकल उनको बहुत हैं, मेरी खातिर मंजूर,
या मेरी, या मेरे दुश्मन की, क़ज़ा आई है ।

मरें उनके दुश्मन, आखिर उसी को मार डाला । अब जा के कलेजे में ठंडक पड़ी । उस ग़रीब के घर में रोना पीटना पड़ा है, यह बैठी वारों के साथ कहकहे लगा रही हैं ।

मिर्जा साहब ! इन सब बातों को आप मुझसे बेहतर जानते हैं और बयान कर सकते हैं । मगर यह करिश्मा देखकर, जो कुछ मेरे दिल पर गुज़री थी, उसको मैं खूब जानती हूँ । औरत को औरत से जो रश्क होता है, उसकी कुछ इन्तहा नहीं है । सच तो यह है, अगरचें मुझे कहते हुए शर्म आती है, कि मेरा दिल चाहता था कि सब के चाहने वाले मुझी को चाहें और सबके मरने वाले भी मुझी पर मरें । न किसी की तरफ़ आँख उठा के देखें, न किसी पर जान दें । मगर मेरी तरफ़ कोई आँख उठा के भी न देखता था । बूझा हुसैनी की कोठरी, जिसकी दरोदीवार से लेकर छत तक धुएँ से स्याह थी, उसके एक तरफ़ भलंग पलंग पड़ा हुआ था, उस पर हम और बूझा हुसैनी रात को पड़ रहते थे । एक तरफ़ कोठरी में चूल्हा बना हुआ था, उसके पास दो घड़े रखे हुए थे । यहीं, दो बदक़लई सी पतीलियाँ, लगन, तवा, रकाबियाँ, प्याले, इधर उधर पड़े रहते थे । एक कोने में आटे की मटकी थी, इस पर दो तीन दालें, नमक, मसाले, हाँडियों में । इसी के पास जलाने की लकड़ियाँ, मसाला पीसने

का मिल्न बढ़ा । मुस्त्वर, कि तमाम किरकिरीवाना यहीं था । चूल्हे के ऊपर दीवार में तो कीलें लगी थीं । खाना पकाते वक्त इस पर चिराग रख दिया जाता था और चिकटा हुआ छोटा सा दीवट पलंग के पास धरा रहता था । खाना पकाने के बाद, वह चिराग उस पर रख दिया जाता था । चिराग में पतली सूत सी बत्ती पड़ी है । मुआ अन्धा अन्धा जल रहा है । लाख उकसाओ, लौ ऊँची नहीं होती । इस कोठरी की आराइज में दो छींके भी थे । इन में से एक में प्याज रहती थी और दूसरे में, सालन दाब की पत्तीली । चपातियाँ मौलवी साहब के वास्ते टाँक के रख दी जाती थीं । प्याज वाला छींका दो चूल्हे के करीब था, और वह हमरा मेरे सीने पर धरा रहता था । अगर पलंग पर अचानक खड़ी हुई, तो सालन की पत्तीली खट से सिर में लगी ।

मुदह से ग्यारह बजे तक, मौलवी साहब की कमचियाँ और शाम से नौ बजे तक उस्ताद की फ़िड़कियाँ आर गजों की मार । यह हमारा लाड प्यार था । यह सब कुछ था, मगर मैं अपनी करतूतों से वाज न आती थी ।

अबबल अबबल तो मुझे आईना देखने का शौक़ हुआ । अब मेरा खिन चौदह बरस का था । इधर बूझा हुसैनी कोठरी से टलीं, उधर मैंने उनकी पिटारी से आईना निकाला । अपनी सूरत देखने लगी । अपना नाक नक्शा और रंजियों से मिलाती थी । मुझे अपने चेहरे भर में कोई चीज बुरी न मालूम होती थी, बल्कि औरों से अपने को बेहतर समझती थी, अगर हकीकत में ऐसा न था ।

रसवा : 'तो क्या आपकी सूरत किसी से बुरी थी ? अब भी सैकड़ों से अच्छी हो । उस वक्त तो और भी जीवन होगा ।'

उमराव जान : 'तस्लीम ! खैर, अब इस तारीफ़ को रहने दीजिये, बे-महल और बेमौक़ा है । मुआफ़ कीजियेगा, मगर हाँ, उस वक्त मेरा ऐसा ही ख्याल था और यह ख्याल मेरी जान के लिए आफ़त था । मैं दिल ही दिल में कहती थी, हाय ! मुझ में क्या बुराई है जो कोई मेरी तरफ़ तवज्जोह नहीं करता !

रसवा : 'यह तो मुमकिन नहीं, कि किसी को आपकी तरफ़ तवज्जोह न हो । निगाहें ज़रूर पड़ती होंगी; मगर बात यह है आपकी भिस्सी नहीं हुई थी । खानम से लोग डरते थे, इसलिये आपसे कोई बोलता न होगा ।'

उमराव जान : 'शायद यही हो, मगर मुझे इतनी तबीयत कहाँ थी। मेरी तो वह मजल थी 'बेहोशती अपने तेहे मैं आप खोलती' अपनी हमजोशियों को देख देख के फुँकी जाती थी। खाना पीना हराम, रातों की नींद तक उड़ गई थी।'।

फिर, उस ज़माने में कंधी करते वक़्त और भी सदसा होता था, इसलिये कि कोई चोटी का शूँथसे वाला न था। जब बिस्मिल्ला की चोटी, तन्नाब छव्वन साहब अपने हाथ से शूँथते थे, मेरे सीने पर काँप लोट जाता था। यहाँ कौन था। वही वूआ हुसैनी। वह भी जब उन्हें फुरसत हुई, नहीं तो दिन-दिन भर वाल खुले हैं, सिर फाड़, मुँह फाड़ फिर रही हूँ। आँखें मैंने अपने हाथ से चोटी शूँथना सीखा। और सब रंडियाँ तो दिन भर में तीन-तीन जोड़े बदलती थीं, यहाँ वही आठवें दिन। पोशाक भी भारी न थी। वह लोग करचोती जोड़े बदलते थे, यहाँ वही गुनघदन का पाजामा, मलमल का दोपट्टा, बड़ी बड़ाई हुई, तो लचके की तीली दे दी गई।

इस पर भी कपड़े बदल के मेरा जी चाहता था, कि मर्दों में जाके बैठूँ। कभी बिस्मिल्ला के कमरे में चली गई, कभी अमीर जान के पास। मगर जहाँ जाती थी, किसी न किसी वहाँने, उठा दी जाती थी। उन लोगों को मेरा बैठना नागवार था। सबको अपनी मज्जदारियों का ख्याल था। मुझे कौन बैठने देना ? और न बैठने देने का एक और भी सबब था, कि उन दिनों मेरी दुबीयत में, बारारत किसी क़दर समा गई थी। जहाँ बैठती, किसी को टींगा दिखा दिया, किसी का मुँह चिढ़ा दिया, किसी को छुटकी ले ली। हर तरह मर्दों से लगावट करती थी। इस वजह से लोग मेरे बैठने के रवादार न थे।

मिर्ज़ा साहब ! आप समझ सकते हैं, कि ग़ौहर मिर्ज़ा ऐसे वक़्त और इस हालत में, मुझे किस क़दर ग़नीमत मालूम हो सकता था। इसलिये, कि वह मुझसे प्यार की बातें करना था। मैं उसको छेड़ती थी, वह मुझे छेड़ता था। मैं उसको अपना चाहने वाला समझती थी और वह भी उन दिनों मुझको चाहता था। जब सुबह मक़तब में आता, कहीं दो नारंगियाँ जेब में पड़ी हैं, मुझे चुपके से दे दीं। किसी दिन हलवा सोहन की टिकिया लेता आया, मुझको खिला दीं। एक

दिन, नहीं मालूम, कहाँ से एक रुपया लाया था, वह भी मेरे हवाले कर दिया । हजारों रुपये मैंने अपनी ज़िन्दगी में अपने हाथ से उठाये होंगे, मगर इस एक रुपये के पाने की खुशी कभी न भूलूँगी । इसके पहले, मुझे पैसे तो बहुत मिले थे, मगर रुपया कभी न मिला था । वह रुपया, बहुत दिन तक, मैंने जुगा रखा । इसलिये, कि इसके सफ़्त की कोई जरूरत मुझे न थी । और अगर थी भी, तो यह ख्याल था, कि अगर सफ़्त करती हूँ, तो लोग पूछेंगे, कहाँ से मिला, तो क्या बताऊँगी ? राज़दारी की समझ मुझे भी आ गई थी, और यह समझ वगैर सिने-तमीज़ को पहुँचे नहीं आती । बेशक मैं सिने-तमीज़ को पहुँच चुकी थी ।

पाँच

एक शातिर चोर, दिल मेरा चुरा कर ले गया,
पासबाँ कमबख्त, सब सोते के सोते रह गये ।'

बरसात के दिन ह, घटा आसमान पर छाई हुई है। पानी तले-धार ऊपर धार बरस रहा है। बिजली चमक रही है। बादल गरज रहा है। मैं बूझा हुसैनी की कोठरी में अकेली पड़ी हूँ। बूझा हुसैनी, खानम के साथ, हैदरी के घर गई हुई हैं। चिराग गुल हो गया है और हाथ को हाथ नहीं सूझता।

और कमरों में जहन हो रहे हैं। कहीं से गाने की आवाज आ रही है, कहीं कहकहे उड़ रहे हैं। एक मैं हूँ, कि इस अँधेरी कोठरी में अपनी तनहाई पर रो रही हूँ। कोई आस पास नहीं है। दिल पर जो गुजर रही है, दिल ही जानता है। जब बिजली चमकती है, मारे डर के दुलाई से मुँह ढाँप लेती हूँ। जब गरज की आवाज आती है, कानों में जँगलियाँ दे लेती हूँ। इसी आलम में आँख लग गई। इतने में यह मालूम हुआ, कि जैसे किसी ने जोर से मेरा हाथ पकड़ लिया। मेरी घिघी बँध गई, मुँह से आवाज तक न निकली और आखिरकार मैं वेहोश हो गई।

सुबह को चोर की ढूँढ हुई। वह कहाँ से मिलता है। खानम मुँह थुथाए बैठी हैं। बूझा हुसैनी बुडबुड़ाती फिरती हैं। मैं ठग मारी-सी चुपकी बैठी हूँ। सब पूछ-पूछ के थक गये, मगर मुझे कुछ मालूम हो तो बताऊँ।

रुसवा : 'यह नहीं कहतीं कि अगर मालूम भी होता तो क्यों बतातीं ?'

उमराव जान : 'खैर, अब हाथिये न चड़ाइये, मुने जाइये ।'

खानम की उस दिन की मायूसी, और बुआ हुसैनी का उदास चेहरा जब मुझे याद आता है, तो वेइखतियार हँसी आती है ।

रसवा : 'क्यों न हँसी आये ? उनकी तो सारी उम्मीदें खाक में मिल गई, और शापना मजाक हो गया ।'

उमराव जान : 'उम्मीदें खाक में मिल गई ? खानम को आप नहीं जानते, एक ही लखना बेसवा थीं । इस बुआमला को इस तरह दबा दिया, जैसे कुछ हुआ ही न था ।'

अब किसी आँत्र के अन्धे और गाँठ के पूरे की तलाश हुई । आसिर एक हड़हड़ फँस गया ।

उन दिनों, एक सदर-उल्-सदूर के साहबजादे, तालिबइल्मी के लिये लखनऊ में तशरीफ लाये हुए थे । घर से खुश, बालद मरहूम उनके रिशवते-नज़-राना के रुपये से, एक दर्खा इलाका, उनके सरफ के लिये छोड़ गये थे । चन्द रोज यहाँ आकर अछड़े रहे । फिर जो लखनऊ की हवा लगी, तो एल्मे-तमा बीनी में हाक और फने-वेगैरती में मक्काक हो गये । इस्मेशरीफ राशद अली था । 'राशद' नरन्त्रलुम करते थे । लखनऊ के किसी उस्ताद ने मुरशद बना दिया । इस इन्तजुस पर आपने बहुत ही फल्ल था ।

बतन से जो मुलाजिम हमराह आये थे, वह सब रखन मियाँ, कहते थे । लखनऊ वालों ने उनको राजा का ओहदा दिया, मगर इस नाम और ओहदे में, किस ऊँचर देहातिया थी । आप लखनऊ की वजा-कता पर मरते थे, इसलिये थोड़े ही दिनों में नबाब साहब बन गये । जब घर से आये थे, तो खासी दाढ़ी मुँह पर थी । लखनऊ की हवा लगते ही, पहले कतरवाँ हुई, फिर कशवदी, और थोड़े दिनों के बाद तो बिल्कुल सफ़ाया हो गया ।

दाढ़ी मुँह से छोटा सा चेहरा कैसा बदनुमा निकल आया । मगर आप उसे खूबसूरती समझते थे । स्याह रंग, चेचक के दाग, भड़ी सी नाक, छोटी-छोटी आँखें, गाल पिचके हुए, तंग पेशानी, कोताह गर्दन, गिना सा कद, शरन् कि बरहमा-गिफ्त-मौसूफ थे, मगर आप आपने को युसूफ-शानी समझते थे ।

पहरों आईना सामने रहता था। मूर्खें इस ऊदर मगोड़ी गई थीं, कि चूड़िया की दुम हो गई। बाल बगड़े गये, धूँधर बनाया गया, नक्कदार टोपी मिर पर रखी गई। ऊँची चोली का अङ्गरखा डँडा। बड़े पायजों का पाजामा पहना गया। यह सब ठाठ रंजियों की दरबारदारी के लिये किया गया था।

अब तो खुद ही तवीयत बहुत रसा थी, दूसरे नायक अहवाल की वजह से, चन्द ही रोज के बाद ऊँचे-ऊँचे कमरों पर पहुँच हो गई। रसाई कैसी, वेतकालुफ़ी बढ़ गई। छुटन जान से मादर-पिदर होना है। वगन टीपें लगाती है, हुस्ता ने जूता खींच मारा। आप हैं, कि छी छी हँस रहे हैं। यह सब कुछ था, मगर नायकाओं का बड़ा अदब करने थे। जिस गंडी में एक सब के लिये भी वास्ता हो गया, उसकी नायका को सब के सामने अम्माँ जान कहना और भुक के तस्लीम करना, ऐन सआदतमन्दी थी। इसमें एक मनलिहत यह भी थी, कि यारों पर जाहिर हो जाता था, कि आप यहाँ पहुँच चुके हैं।

सरेजाम से दो तीन घड़ी रात गये तक, खानम माहब का दरबार करने थे। उनकी हर एक नोची की त्विदमत में नियाज हानिल था। गाने के फ़न में भी आपको कमाल था। ठुमरियाँ खुद तमनीक़ फ़रमाते। खुद ही धुन बना के गाते थे, खुद ही भाव बताते जाते थे। और तो जो कुछ था, वह था। मुँह से नबला खूब बजाते थे। यारों ने खूब बना लिया था। आपके अशआर पर लोगों ने इतनी तारीफ़ की, कि आपको फ़ल्ले आतिश-त्रो नासिख बना दिया। मुशायरों में खींच ले गये। आप से गज़ल पढ़वाई, तमाम मुशायरा चौक गया। रेख़ती-गोयों से पहले आपका कलाम पढ़ा जाता था। हँसते हँसते लोगों के पेट में बल पड़ जाते थे। लोग बनाने थे, आप खुश होते थे, भुक भुक के तस्लीम करते थे।

वतन से वे-मुओमश रुपया आता था। इनकी वालिदा बेचारी, इस ख़याल से, कि लड़का पढ़ने गया है, मौलवी बन के आयेगा, यह जो कुछ लिख भेजते थे, भेज देती थीं। लखनऊ के बेफ़िक़े, खुश पोशाक, ऐशपसन्द मुफ़्त ख़ोरे आपके हमराह रहते थे। इन्हीं लोगों के कहने मुनने से कुछ ख़याल पैदा हुआ। इस

ख्याल ने तरक्की करते करते, इस्तयाक़ तक नौबत पहुँचाई । आखिर को इश्क और इसके बाद जुलून हो गया । इधर खानम ने लिखाव किया । खानम का यह कहना, 'ता माह्व, अभी वह कमसिन है,' और उनकी वह इतना, मिन्नत, बेकरारी, आज तक मुझे याद है । आखिर दुआ-शादीज की तासीर, और समझवारों की दौड़ धूप से पाँच हजार पर तोड़ हुआ । इस रुपया के लेने के लिये आपको चन्दरोज़ के लिये बतन जाना पड़ा । माँ से छिपा के, दो गाँव अपने रहन कर दिये । बीस पच्चीस हजार रुपये ले के लखनऊ आये । पाँच तोड़े गिन दिये ।

सारा रुपया दीवानजी की मार्फत खानम के खजाने में दाखिल हुआ । बुआ हुसैनी ने पाँव फँसाये । पाँच सौ रुपया नज़र नियाज़, के नम से ले मरीं । मुलात्ता यह, कि मैं आपके सर भेंट दी गई । छः महीने तक आप लखनऊ में रहे । मौ रुपया माहवार देते थे, फ़रमाइश का ज़िक्र नहीं । जो कुछ मुझे खुफ़िया दिया, वह बुआ हुसैनी के पास रहता था । खानम को उसकी खबर न थी । अब मैं गोया आज़ाद हो गई । दो महिरियाँ, दो खिदमतगार, मेरे लिये ख़ास मुलाज़िम हुए । फाटक के पास वाला कमरा, मेरे रहने के लिय सजा दिया गया । दो चार आदमी, शरीफ़ज़ादे, नवाबज़ादे मेरे पास आकर भी बैठने लगे ।

गौहर मिर्जा हर ज़माने में मुझ से बराबर मिलता रहा । खानम और बुआ हुसैनी उमकी सूरत से जलती थीं । मुझे मुहब्बत थी, इसलिये कोई रोक नहीं सकता था । उधर गौहर मिर्जा के वालिद ने इत्तिफ़ाक़ किया । जो आमदनी वहाँ से होती थी, वह बन्द हो गई । बन्नी बुढ़िया हो चुकी थी, कोई पूछता न था । इसलिये, गौहर मिर्जा के सरफ़ की ख़बरगिरी मेरे ज़िम्मे थी ।

सब रंडियों का क़ायदा है, कि एक न एक को अपना बनाये रखती हैं । ऐसे शख्स से बहुत ज़्यादा क़ायदा होता है । एक तो यह, कि जब कोई न हुआ तो इसी से दिल बहलाया । सौदे-मुलफ़ का आराम रहता है । आदमी से मँगाओ तो कुछ न कुछ खाजायेगा । यह मारे खैरखाही के अच्छी से अच्छी चीज़, शहर

भर से ढूँढ़ के लाये हैं। बीमार पड़ो, तो हृद से ज्यादा खिदमत करते हैं। तरह तरह के आराम देने हैं। रात भर पाँव दवाते हैं। मुग़, दाग बना के पिलाने हैं। हकीम साहब से हाल कहने जाते हैं। दोस्त, आशनाओं से तारीफ़ें करते रहते हैं। चरकट फँसा के लाते हैं। जहाँ शादी व्याह हुआ, मुजरे का इन्तजाम अपने जिम्मे लेकर साथ ले जाते हैं। महफ़िल में बैठकर अहले-पहफ़िल से मुन-वज्जोह कहते हैं। वह नाच रही ह, यह ताल देते जाते हैं। हर सम पर आह कहते हैं, हर ताल पर बाह कर रहे हैं। वह भाव बना रही है, यह शरह करते जाते हैं। इन्हीं की वजह से अच्छे से अच्छा खाने को मिलता है। खानिर मदारान और रंडियों से ज्यादा होती है। इनामो-इकराम सिवा मिलता है। अगर किसी रईस अमीर से मुलाकात हो गई, तो इन्हीं की बदौलत उनको लुत्फें रक्कावत हासिल होता है। उधर वह चाहते हैं कि रंडी इनको चाहने लगे, इधर रंडी जान-जान के उनका कत्मा भर रही हैं। कभी यह फ़िक़र है, 'साहब, मैं उनकी पाबन्द हूँ, नहीं मालूम, आप से क्यों कर मिलती हूँ। अब उनके आने का वक़्त है, मुझे जाने दीजिये। वह तो हमेशा के हैं। आप इस तरह क्या निवाहियेगा।'।

तमाशबीन इनसे दबते रहते हैं। अगर किसी से कुछ तक्रार हुई, यह हिमायत को तैयार। शहर के बाँके तिछों से मुलाकात। बात की बात में पचास साठ आदमी जमा हो सकते हैं। तमाशबीन एक तरफ़, खुद नायका पर दबाव रहता है। हर वक़्त यह ख़ौफ़ लगा रहता है कि रंडी इनको प्यार करती है; कहीं ऐसा न हो, इनके घर जा बैठे।

अमीर जान काजिम अली पर मरती थीं। वरसों अपने पास से रुपया दिया। एक सतंबा पाँच सौ के कड़े उतार के दे दिये और सुबह को गुल मचा दिया, कोई उतार के ले गया। एक दिन भाल की एक चद्दर, ग्यारह सौ के जोड़ की दे दी और कह दिया कि ऐश बाग़ के मेले में कानों से गिर गई। इसी तरह हजारों रुपये का सलूक किया। घर भर की रोटियाँ, अमीर जान की बदौलत थी।

खुरशीद प्यारे साहब पर जान देती थीं। बिस्मिल्ला के कोई आशाना न

था । नजीबन में छिछोरापन था, किसी पर बन्द न थीं ।'

श्रीशों का जिक्र क्या, खानम साहब, पचास पचपन बरस के सिन में मीर आँलानद अली पर जान देती थीं । मीर साहब का गिन अठागढ़ उत्तम बरस का था । सूरजदार जवान थे । बसरली बदन था । अच्छे अच्छों की निगाह पड़ती थी । खानम का रौब शान्ति था । क्या मजाल कोई बात कर सके ! बेचारे शरीर आदमी थे । रोटी को मोहताज । खानम की बखीलत सारा कुनबा पर बर्गिष पना था । डेढ़ हजार रुपया लगा के शादी कर दी, मगर वारात की रात के भिन्ना, मीर साहब को, कभी जब को घर में सोना नसीब नहीं हुआ । दिन रात यहीं रहते थे । बड़ी दो बड़ी को घर भी हो आते थे ।

एक और मिर्जा साहब. कोई सत्तर बरस का सिन, कमर झुकी हुई, न सुँह में दौंग, न पेट में आँन, खानम साहब के कदीम-आशनाओं में से थे । अब उन न कोई भी बास्ता न था, मगर घर वालों की तरह रहते थे । सुबह शाम, खाना खानम के साथ खाते थे, कपड़ा खानम वनवा देती थीं । अफ्रीम, गन्ना, रेवड़ियाँ, इन सब अखराज् त का भार, खानम के सिर था । एक दिन हम लोग खानम साहब के पास बैठे हुए हैं । खुरशीद जान समजूदा सूरत लिये बैठी हैं ।

क्यों ? प्यारे साहब की शादी होती है, उन पर राम सवार है । खानम ने फरमाइश के तौर पर कहा, 'जाओ छोकरियो, नहीं मालूम इस जमाने की मुहंजबतें किस किस की हैं ? जैसी रंड़ियाँ वैसे उनके आशना । एक हथारा जमाना था, देखो, (मिर्जा साहब की तरफ इशारा करके) एक यही मर्द आदमी बैठे हैं । जवानों में मुझसे आशनाई हुई, माँ बाप ने शादी ठहराई । आप माँके का जोड़ा पहन के खुभे दिखाने आये । मैंने माँके के जोड़े के पुजों पुजों कर दिये । हाथ पकड़ के बैठ गई, कि मैं तो न जाने दूँगी । इसको चालीस बरस का जमाना मुजरा । आज तक तो घर नहीं गये । कहो, है कोई ऐसा तुम्हारा भी ? सब ने मिर झुका दिया ।

छः

यूँ तो विस्मिल्ला की मिस्सी में, मैं पहले-पहल नाची गाई थी। मगर मेरा पहला मुजरा, नवाब शुजायत अली खाँ के लड़के की शादी में हुआ था। वह महफिल भी यादगार थी। नवाब की वारादरी किस शान से सजाई गई थी। बेश क्रीमत शीशा आलात की रोशनी से, रात को दिन हो गया। माफ़-सुथरा फ़र्श, ईरानी कालीन, जरबफ़्त के मसनद तकिये, मामने रंग रंग के मृदंगों की क़तार रौशन।

इन और फ़ूलों की खुशबू से तमाम वारादरी बसी हुई थी। धुआँधार हुक्कों की खुशबू व गिलौरियों की महक में दिमाग़ मुग़त्तर थे। मेरा सिन कोई चौदह बरस का था। इस ज़माने में बड़ीदे से एक बाईजी आई हुई थीं। तमाम शहर में उनके गानों की धूम थी। बड़े-बड़े गवैये कान पकड़ते थे। मालूमात ऐसी थी, कि पोथियाँ गोया तोके-जुबान थीं। गला बह, कि चार मुहल्ले उधर आवाज़ जाए। मगर बाह़ खानम साहब, बाक़ई क्या रंग देखती थीं? इसके बाद मुझको खड़ा कर दिया। मुझे तो क्या तमीज़ थी, मगर समझदार लोग हैरान थे, कि खानम साहब क्या करती हैं। भला बाई जी के सामने इस छोकरी का रंग जमेगा?

पहले गत शुरू हुई। इसमें कुछ महफ़िल मेरी तरफ़ मुखातिब हुई। मेरी भी उठती जवानी थी, सूरत अच्छी न थी। मगर उस वक़्त की फ़ुर्ती, चालाकी, अलङ्कपन,

कुछ न पूछी शबाब का आलम,
 क्या कहें क्या अजब जमाना था ।'
 गत थोड़ी ही देर नाची हूँगी कि खानम ने यह ग़ज़ल शुरू करा दी,
 आज इस बरस में वह जलवा तुमा होता है,
 देखिए देखिए इक आन में क्या होता है ।
 इस ग़ज़ल के शुरू करने के साथ ही महफ़िल तहोबाला हो गई । इसके
 बाद दूसरा मतला, वता के जो गाया, अहले-महफ़िल भूमने लगे ।
 नाला रकता है तो सरगमें ज़फ़ा होता है,
 बंद थमता है तो बंदबंद ख़फ़ा होता है ।
 और इस शेर ने तो कयामत ही बरपा कर दी,
 फिर नज़र भेपती है और आँख भुकी जाती है,
 देखिए देखिए फिर तीर ख़ता होता है ।
 इस शेर का यह हाल था कि जिससे नज़र मिला के गाया, नज़र न उठा
 सका ।

भूतपरस्ती में न होगा कोई मुक़ता बदनाम,
 भेपता हूँ जो कहीं ज़िफ़े खुदा होता है ।
 और इस शेर को सुनिये और कयाम कीजिए, आशिक़ निज़ाजों पर इसका
 क्या असर हुआ होगा ।

इश्क़ में हसरते दिल का तो निकलना कैसा,
 बम निकलने में भी कमबख़्त मज़ा होता है ।'
 फिर इसके बाद यह शेर पढ़ा,
 हाले-दिल उनसे न कहना था हमें, चूक गए,
 अब कोई बात बनायें भी तो क्या होता है ।'

समाम महफ़िल पर वज्द का आलम तारी था । हर महज़ूज खुश था, हर
 लफ़्ज़ पर वाह, हर सम पर आवा, हा । एक एक शेर, आठ आठ दस दस,
 मतंबा ग़वाया गया, फिर भी सेरी नहीं होती थी । इसी ग़ज़ल पर मेरा मुज़रा
 मौक़फ़ हुआ । दूसरे मुज़रे में फिर यही गवायी गई ।

रसवा : 'खैर, महफिल का जो हाल हुआ हो, उस बराए खुदा छोड़िये, और जिस कदर शेर इस गजल के याद हों, सुना दीजिये। यह किमकी गजल है ?'

उमराव जान : 'ऊई, क्या आप नहीं जानते ?'

रसवा : 'मैं समझा।' \

उमराव जान : 'और शेर सुनिये।'

ता लबे गोर पहुँच जाते हैं मरने वाले,
वह भी उस वक्त कि जब शौके रसा होता है।

रसवा : 'सुभान अल्लाह।' \

उमराव जान : 'बाकई कलम तोड़ दिया है।'

'आह में कुछ भी असर हो तो शररबार कहूँ,
बरना शोला भी हकीकत में हवा होता है।'
'किस कदर मोतक़दे हुस्ने मकाफ़ात हूँ मैं,
दिल में खुश होता हूँ, जब रंज सिवा होता है।

रसवा : 'बाह, क्या खूब।

उमराव जान ; 'और सुनिये,

शौके इजहार अगर है, तो मेरे दिल को न तोड़,
इसी आईना में तू जलवानुमा होता है।

रसवा : यह तस्वुफ़ है। हमें इससे कोई लगाव नहीं। पर यह 'शौके' 'इजहार' यह लफ़्ज़ क्यों कर मिल जाते हैं।' \

उमराव जान : 'मक़ात सुनिये;

'हिफ़्र में नाला व फ़रियाद से बाज़ आ,
ऐसी बातों से वह बेदर्द खफ़ा होता है।

रसवा : 'क्या मतला से मक़ता निकाला है ? मक़ता कहने की फ़ुर्सत ही 'न मिली होगी।' \

उमराव जान : 'फ़ुर्सत उन्हें मिलती ही कब है ?'

पहले मुजरे के दूसरे दिन बुआ हुसैनी मेरे कमरे में आईं, एक ख़िदमत-

गार उनके साथ था ।

बुआ हुसैनी : 'देखो उमराव साहब, यह क्या कहना है ?'

इतना कह के बुआ हुसैनी कमरे के बाहर चली गई ।

खिदमतगार (सलाम करके) : 'मुझे नवाब सुलतान साहब ने भेजा है, जो कल शव को, मस्जिद में दूल्हा के दाहिनी तरफ बैठे थे । और फरमाया है, मैं किसी वक्त आप के पास आना चाहता हूँ, बशर्ते कि जिस वक्त मैं आऊँ, उस वक्त कोई और न हो, और उस ग़ज़ल की नक़ल माँगी है, जो आप ने कल माँगी थी ।'

मैं : 'नवाब साहब से मेरी तस्लीमात कहना, और कहना, शाम को जब चाहिये, तशरीफ़ लाइये, तख़लिया हो जायेगा । ग़ज़ल के लिये कल दिन को किसी वक्त आना, लिख दूँगी ।'

दूसरे दिन, पहर दिन चढ़े, खिदमतगार आया । मैं कमरे में अकेली बैठी थी । ग़ज़ल की नक़ल मैंने कर रखी थी, उसके हवाले की । उसने पाँच अशरफ़ियाँ कमर से निकाल के मुझे दीं, और कहा, कि नवाब साहब ने कहा है, कि आपके लायक तो नहीं मगर ख़ैर पान खाने के लिये मेरी तरफ़ से क़बूल कीजिये । आज शव को चिराग़ जलने के बाद मैं ज़रूर आऊँगा । खिदमतगार सलाम करके रुज़सत हुआ । उसके जाने के बाद पहले तो मुझे ख़याल हुआ कि बुआ हुसैनी को बुला के यह अशरफ़ियाँ दे दूँ । वह ख़ानम के हवाले करें । फिर एक दो दफ़ा अशरफ़ियों की तरफ़ देखा, चमकती दमकती, नये घन की अशरफ़ियाँ, भला मेरे दिल से कब निकलती थीं ? इस वक्त सन्दूकचा बन्दूकचा तो मेरे पास न था, पलंग के पाये के नीचे दबा दीं ।

सात

मिर्जा रसवा साहब ! मेरे नजदीक हर औरत की जिन्दगी में एक वह जमाना आता है, जब वह चाहती है, कि उसे कोई चाहे । यह न समझियेगा, कि यह ख्वाहिश चन्द रोज़ की होती है । बल्कि जबानी आते ही इसकी इश्तदा होती है और उम्र के साथ ही इसमें तरक्की होती रहती है । जिस क्रंदर सित बढ़ता है, उसी क्रंदर यह ख्वाहिश बढ़ती रहती है ।

गौहर मिर्जा, वेशक मेरा चाहने वाला मौजूद था, मगर उसकी चाहत और क्रिस्म की थी । उसकी चाहत में एक बात की कमी थी, जिसे मेरा दिल ढूँढता था । मर्दाना हिम्मत को उसकी आदत में लगाव न था । माँ का झमनीपन उसके स्वभाव में शामिल था । वह जो कुछ पाता था, मुझ से छीन भपट के ले लेता था । खुद एक रुपया के सिवा, जिसको मैं कह चुकी हूँ, कभी नहीं दिया । अब मेरा दिल ऐसा आशिक ढूँढता था, जो मेरी नाजवरदारी करे, रुपया खर्चें, खिलाये पिलाये । नवाब सुलतान साहब, नवाब साहब का यही नाम आदमी ने बताया था, सूरत शक्ल के अच्छे थे । उनके चेहरे पर इस क्रिस्म का रौब था जिस पर औरत हजार दिल से फरेफ़ता हो जाती थी । बाज़ लोग ग़लती से यह ख्याल करते हैं कि औरत को सिर्फ़ खुशामद और इजहार-इश्क़ पसन्द है । वेशक़ पसन्द है, मगर शर्त यह है कि इसमें ज़रा भी कमीनापन न हो । कुछ लोग रंडियों का गहना ताकते हुए आते हैं, जिनके हर इशारे से यह मतलब निकलता है कि हमें चाहो, खुदा के लिये चाहो, और घर पर आजाओ । जो कुछ

तुम्हारे पास है, हमें दे दो और हमारे घर की मामागीरी करो, रोटियाँ पका पका के खिलाओ, हमारी और हमारे बाल बच्चों की जूतियाँ सीधी करो । हर शख्स का हुस्न, हज़रते यूसुफ़ का जादू नहीं है, कि हर एक औरत उस पर जान देने लगे । मर्द औरत से और औरत मर्द से मुहब्बत करते हैं, मगर इस मुहब्बत में अग़राजे जाती का भी अक्सर लिहाज़ रहता है । बेग़राज मुहब्बत जैसे लैला मजनूँ, शीरीं फ़रहाद, यह सिर्फ़ किस्से कहानियों में सुनी जाती है । लोग कहते हैं, कि एक तरफ़ा मुहब्बत नहीं होती । हम ने इसे भी आँखों से देखा है, मगर इसको, ख़लल दिमाग़, समझना चाहिये । फिर क्या जरूरत है, कि मर्द औरत दोनों दीवाने हों ?

दूसरे दिन रात को नवाब साहब तशरीफ़ लाये । बुआ हुसैनी से मामूली गुप्तगू के बाद, कमरे में तख़लिया हो गया । मालूम हुआ, नवाब साहब ने मुलाज़िम नहीं रखा, सिर्फ़ यह तै हुआ है, कि कभी कभी रात को घड़ी दो घड़ी, के लिये आया करेगे । नवाब साहब बहुत ही कम सख़ुन और भोले भाले आदमी थे । सित अठारह उन्नीस बरस का था । बिस्मिल्ला के गुम्बद में पर-वरिश पाई थी । माँ बाप के दवाब में थे । दुनिया के जाल फ़रेब से आगाह न थे । इज़हारेइश्क़, ख़िदमतगार की जबानी हो चुका था, वरना नवाब साहब को इसमें भी किसी क़दर मुश्किल होती । मगर मैं ने थोड़ी देर में बेतकल्लुफ़ बना लिया ।

बहुत सी लगावट की बातें कहीं, बिल्कुल आशिक़े ज़ार बन गई । इसमें कुछ सच था, कुछ झूठ । सच तो इसलिये, कि नवाब की सूरत ऐसी न थी, कि एक औरत, ख़्वाह वह कैसी ही सख़्त दिल क्यों न हो, इन पर भायल न हो जाये । गोरी गोरी रंगत, जैसे गुलाब का फूल, सुतवाँ नाक, पतले-पतले होठ, खूबसूरत बत्तीसी, घुँघरू वाले बाल, किताबी चेहरा, ऊँचा माथा, बड़ी बड़ी आँखें, भरे भरे बाजू, मछलियाँ पड़ी हुई चौड़ी कलाईयाँ, बुलन्द बाला कसरती बदन । खुदा ने सिर से लेकर पाँव तक, तमाम बदन, सूर के सँचि में ढाला था । इस पर भोली भोली बातें, बात बात में आशिक़ाना शेर जिनमें अक्सर ल्हूही की तसनीफ़ । शेर पढ़ने में हियाब बढ़ा हुआ था । ख़ानदानी शायर थे ।

मुशायरों में अपने वालिद के साथ गजल पढ़ते थे ।

शायरों को, कैसा ही आशिकाना शेर हो, किसी के सामने पढ़ते हुए भेंप नहीं होती । छोटे बुजुर्गों के सामने और बुजुर्ग छोटों के सामने, चाहे और किस्म की गुफ्तगू न कर सकते हों, मगर शेर पढ़ने में तकल्लुफ़ नहीं होता । शेर भी ऐसे, कि अंगर नसर में इनका मतलब अदा किया जाये, तो मुँह से कहते न बने । शरजकि इस रात को बड़े मजे की सोहबत रही ।

नवाब : 'आपकी अदाओं ने तो मुझे ऐसा फ़रेपता कर लिया है, कि वरौर आपके देखे, मुझे चैन ही नहीं आता ।'

मैं : 'यह सब आपकी क़दरदानी है, वरना मैं क्या और मेरी हकीक़त क्या ? 'मन आनम कि मी दानम' ।'

नवाब : 'ओ हो । आप तो पढ़ी लिखी मालूम होती हैं !'

मैं : 'जी हाँ, कुछ बुद-बुद पढ़ा तो है ।'

नवाब : 'और लिखना भी जानती हो ?'

मैं : 'जी हाँ, लिख भी लेता हूँ ।'

नवाब : 'तो वह ग़ज़ल आप ही के हाथ की लिखी हुई है ?'

मैं मुस्कुरा के चुप हो रही ।

नवाब : 'वल्लाह, कितना प्यारा खत है । इस बात से तो बहुत ही जी खुश हुआ, ख़िदमतगारों से दिल का हाल कहते नहीं बनता । अब जबाने क़लम से गुफ्तगू हुआ करेगी । हम तो ऐसा चाहते ही थे । जहाँ तक हो सके ऐसे मुआमले में ग़ैर की बसातत न हो ।

न सारों की बसातत हो, न यारों की शमातत हो,

जो हैं आपस की बातें, राज़दार उनके हमी तुम हो ।'

मैं : 'यह आप ही का शेर है ?'

नवाब : 'जी नहीं, वालिद मरहूम ने फ़रमाया था ।'

मैं : 'क्या ख़ूब फ़रमाया है ।

नवाब : 'माशा अल्ला ! आपको शायरी का मज़ाक़ भी है ।

अच्छी सूरत जो खुदा दे, तो यह औसाक़ भी दे,

हस्ते तक्ररीर भी हो, खूबिये तहरीर भी हो ।'

मैं : 'किसका शेर है ?'

नवाब : 'उन्हीं का ।'

मैं : 'क्या खूब फ़रमाया है ।'

नवाब : 'जी हाँ, वह ऐसा ही फ़रमाते थे । मगर बल्लाह, आप की शान के लायक है ।'

मैं : 'यह फ़कत आपकी इनायत है;

वरना मैं क्या, मेरी हकीकत क्या ।'

नवाब : 'क्या साफ़ साफ़ शेर है ।'

मैं : 'तस्लीम ।'

नवाब : 'यह कहिये आप शेर भी कहती हैं ?'

मैं : 'जी नहीं, आप जैसे क़दरदानों से कहलवा लेती हूँ ।'

इस बात पर पहले तो नवाब साहब ने ज़रा तय़री चढ़ाई, फिर मुझे मुस्कुराते हुए देख कर हँस पड़े ।

नवाब : 'ख़ूब कही । जी हाँ, अक्सर रंडियों का यह तरीक़ा है, कि यारों से कहलवा के अपने नाम से पढ़ा करती हैं ।'

मैं : 'आप रंडियों को ऐसा न कहिये, क्या मर्द ऐसा नहीं करते ?'

नवाब : 'बल्लाह सच है । वालिद मरहूम के दोस्तों में अक्सर ऐसे साहब हैं, जिन्होंने कभी एक मिसरा नहीं कहा और हर मुशायरे में राज़ल पढ़ने को तैयार । अक्सर वालिद ही कह दिया करते थे । कभी ऐसा होता था, कि मेरी राज़ल में शेर ज़्यादा हुए, छाँट दिये । मैं कहता हूँ कि इसमें लुत्फ़ ही क्या है । वालिद मरहूम फ़रमाया करते थे, कि हमने हज़रत उस्ताद के बनाये हुए शेर दीवान से निकाल डाले । झूठी तारीफ़ों से दिल को क्या खुशी होती होगी ।

मैं : 'ख़ुदा जाने ! यह भी एक हवस है और बुरी हवस ।'

नवाब : 'अच्छा तो इस राज़ल का और कोई शेर याद हो तो पढ़िये ।'

मैं : 'फ़ज्र है ज़बते नाला-ओ-फ़रियाद ।

जिससे नज़ुश हो तुम वह आदत क्या ?'

नवाब : 'क्या शेर पड़ा है, फिर पढ़ियेगा । वल्लाह क्या नयी बात कही है ।'

मैं (शेर दोबारा पढ़के) : 'तस्लीम । आप क्रदरदानी करते हैं ।'

नवाब : 'शेर ही अच्छा है । और कोई शेर पढ़िये ।'

मैं : 'इस तरह में मेरी गज़ल नहीं । यह दो शेर अभी कहे हैं ।'

नवाब : 'यह और तुरी हुआ । फ़िलबदीह, और ऐसे शेर । अच्छा और किसी गज़ल के शेर पढ़िये ।'

मैं : 'अब आप इरगाद कीजिये ! इसीलिये मैंने पहल की थी ।'

नवाब : 'मैं पढ़े देता हूँ, मगर आपको गज़ल पढ़नी होगी ।'

इतने में कमरे का दरवाज़ा धड़ाक से खुला और एक साहब पचास पचपन बरस का सित, स्याह रंगत, बड़ी दाढ़ी, तिछ्छी पगड़ी बाँधे, कमर बाँधी हुई, कटार लगी हुई, कमरे के अन्दर घुस आये । और आते ही निहायत बेतकलुफ़ी से मेरा घुटना दबा के बैठ गये । नवाब साहब ने मेरी तरफ़ देखा । मैंने सिर झुका लिया । काटो तो बदन में लहू नहीं । कहाँ तो नवाब साहब से यह इक्तरार था, कि बिल्कुल तनहाई होगी । कमरे में कोई न होगा । किस मजे की गुफ़्तगू, क्या सुथरा मज़ाक था । क्या राज़ो नगाज़ हो रहा था, कहाँ यह बला सिर पर आ पड़ी । पत्थर लगा और सख़्त लगा ।

हाय, क्या मजे की सोहबत थी । इस कमबख़्त ने, कैसा मजे में ख़लल डाला । नवाब अभी गज़ल पढ़ने को थे, इसके बाद मैं कुछ कहती । नवाब तारीफ़ें करते । क्या दिल खुश होता । आज ही तो एक ऐसा क्रदरदान मिला था, जिसे मुद्तों से मेरा दिल ढूँढ़ रहा था, और आज ही इस आफ़त का सामना हुआ । खुदा इस मुए को जल्दी जल्दी यहाँ से उठाये । यह ख़यालात मेरे दिल में थे, और वह खूँख़वार सूरत, आँखों के सामने थी, जिसकी तरफ़ देखने से मेरा दिल लरज़ा जाता था । वह तो मेरी जान को, गोया दिलावर ख़ाँ हो गया । मुझे बार-बार अन्देश था, कटार जो इसकी कमर में है या मेरे कलेजे के पार होगी या खुदा न खास्ता, नवाब साहब को कुछ चोट पहुँचायेगी । दिल ही दिल में, मैं कोसती थी । खुदा शारत करे, मुझा कहाँ से इस बख़्त आ गया ।

आखिर मुझसे और तो कुछ न बन पड़ा, बुआ हुसैनी को आवाज दी । उन्होंने जो आ के थह माजरा देखा, सब समझ गईं । बुआ हुसैनी की बातों से मालूम हुआ कि वह इन साहब को कुछ जानती भी थीं ।

बुआ हुसैनी : ‘खान साहब ! मुझे कुछ आपसे अर्ज करना है, इधर तशरीफ लाइये ।’

खान साहब : ‘जो कुछ कहना है वहीं से कहो । हम लोग कहीं बैठ के उठते हैं ।’

बुआ हुसैनी : ‘तो खान साहब ! कोई ज्वरदस्ती है ।’

खान साहब : ‘इसमें ज्वरदस्ती क्या । रंडियों के मकान पर किसी का इजारा नहीं और अगर ज्वरदस्ती ही सही, हम तो नहीं उठने के, देखें तो हमें कौन उठा देता है ।’

बुआ हुसैनी : ‘इजारा क्यों नहीं ? जो जर खर्चंगा, रंडी उसी की है फिर और कोई उस वक्त नहीं आ सकता ।’

खान साहब : ‘तो जर खर्चने को हम तैयार हैं ।’

बुआ हुसैनी : ‘अच्छा इस वक्त इसका कोई मौका नहीं और किसी वक्त तशरीफ लाइयेगा ।’

खान साहब : ‘औरत कुछ वाही हुई है, कह दिया हम नहीं उठेंगे ।’

मैंने देखा, कि नवाब का चेहरा, मारे गुस्से के सुर्ख हो गया । मगर अभी तक चुपके बैठे रहे । कुछ मुँह से नहीं बोलते ।

बुआ हुसैनी : बेटी ! अच्छा तू उठ के इधर चली आ । नवाब साहब, आपके आराम का वक्त है, कोठे पर तशरीफ ले जाइये ।

मैंने उठने का इरादा किया, तो इस निगोड़-मारे ने जोर से मेरा हाथ पकड़ लिया । अब क्या करूँ ।

नवाब : ‘खान साहब, रंडी का हाथ छोड़ दीजिये । इसी में खैरियत है । आप बहुत कुछ ज़्यादातियाँ कर चुके हैं । मैं खामोश बैठा रहा, सिर्फ़ इस रूपाल से कि रंडी के मकान पर झगड़ा करना अच्छा नहीं, मगर अब.....।’

खान साहब : ‘मगर अब तुम क्या कर सकते हो ? देखें तो, कौन रंडी का

हाथ छुड़ा लेता है ।'

मैं (जोर से हाथ भटककर) : 'अच्छा तो हाथ छोड़ दीजिये, मैं कहीं जाती नहीं ।' वाकई मैं नवाब को छोड़ कहीं न जाती ।

खान साहब ने हाथ छोड़ दिया ।

नवाब साहब : 'मैं कहे देता हूँ कि जरा जवान सँभाल के गुप्तधू कीजिये । मालूम होता है कि आपने शरीफों की सोहबत नहीं उठाई ।'

खान साहब : खैर, तुमने तो शरीफों की सोहबत उठाई है, जो कुछ हो सके कर लो ।'

नवाब : 'यह तो मालूम हुआ कि आप लड़ने पर अमादा हैं, मगर रंडी का मकान कोई अखाड़ा नहीं है, न मैदान है । बेहतर है, कि इसको किसी और वक्त पर मौकूफ रखिये और अब तशरीफ ले जाइये, नहीं तो...' ।'

खान साहब : 'नहीं तो तुम मुझे घोल के पी जाओगे । तशरीफ ले जाइये, यह एक ही कही । तुम्हीं क्यों नहीं चले जाते ।'

नवाब : 'खाँ साहब, जनाबे अमीर की क्रमम, मैं बहुत तरह देता हूँ । इस-लिये, कि मुझे किसी कदर अपनी इज्जत का ख्याल है । बालदेन, अजीज, दोस्त, जो सुनेगा नाम रखेगा वर्ना, आपको अभी इन गुस्ताखियों का मजा चखा देता । फिर मैं आप से कहता हूँ कि बेफायदा हुज्जत न कीजिये, तशरीफ ले जाइये ।'

खान साहब : 'अर्माँ, रंडी के घर पर तो आते हो और अर्माँ जान से डरते हो गुस्ताखियाँ कैसी, तुम्हारे बाप का नाँकर हूँ ? तुम अपने घर के रईसजादे हो, तो हुआ करो । रंडी के मकान पर तुम भी बैठे हो, हम भी बैठे हैं । जब हमारा जी चाहेगा, जायेंगे । तुम खुद बेकार हुज्जत करते हो । किसी को उठाते नहीं देखा !

नवाब : उठा देना कोई मुश्किल नहीं । खिदमतगारों को आवाज देता हूँ, तो आपकी गर्दन में अभी हाथ दे के निकाले देते हैं ।

खान साहब : 'खिदमतगारों के बल पर न फूलना । यह कटार भी देखी है ।'

नवाब : 'ऐसे बहुत कटार देखे । जो वक्त पर काम आवे, वह कटार है । आपकी कटार म्यान से निकलती रहेगी । यहाँ तो अभी आपकी गर्दन नाप दी जायेगी । फिर देखा जायेगा ।'

खान साहब : 'ले, अब तुम्हीं घर को चले जाओ, अम्माँ जान याद करती होंगी ।'

मैं देख रही थी, कि नवाब का चेहरा बिल्कुल बदल गया है । मारे गुस्से के थर थर काँप रहे हैं । मगर बाहरी शराफत, इस पोजी ने किस कदर सख्त सुस्त कहा, मगर यह आप ही आप करके बात कर रहे हैं । इससे, मुझे पहले तो यह ख्याल था, कि नवाब डर गये, मगर मेरा यह ख्याल शलत निकला । वाकई, नवाब को अपनी इज्जत का ख्याल था । इसीलिये तरह दे रहे थे । चाहते थे, कि मुआमला सहूलियत से रफ़ा दफ़ा हो जाये, मगर इस पाजी की बदख़बानी बढ़ती जाती थी । जिस कदर नवाब तरह देते थे, वह और शेर होता जाना था, आखिर नवाब ने कहा,

'अच्छा, उठिये खान साहब । हम आप दोनों यहाँ से चले चलें । ऐसा बाग़ में चल के, हमारे आपके दो दो हाथ हो जायें ।'

खान साहब (कहकहा मार के) : 'साहब जादे ! अभी तुम खुद मुँह चूमने के लायक हो और मर्दों से खाना बंजी करने का हौसला । कहीं कोई चरका खा जाओगे, तो अम्माँ जान रोती फिरेंगी ।'

नवाब : 'मरदूद ! अब तेरी बद-ख़बानियाँ हद को पहुँच गई हैं । देख, अब तुझे तेरी गुस्ताखी की सजा देना हूँ ।

यह कहते ही, नवाब ने दुवाई के अन्दर से हाथ निकाला । हाथ में तमंचा था, दन से दाग़ दिया । खान साहब धम से गिर पड़े । मैं सन्न हो गई । फ़र्श पर खून ही खून नज़र आता था । बुआ हुसैनी जहाँ खड़ी थीं, खड़ी रह गईं । तमचे की आवाज़ सुन के, खानम साहब, मिर्जा साहब, मीर साहब, खुरशीद, अमीर जान, विस्मिल्ला जान, खिदमतगार, सह्रियाँ, तू, मैं, सब दौड़े आये । मेरे कमरे में भीड़ हो गई । सब अपनी अपनी कहने लगे । इतने में शमशेर ख़ाँ, एक अघेड़ सा आदमी, नवाब साहब का मुलाज़िम, ने लपक के, नवाब के

हाथ से तमंचा लिया और कहा, 'ले हुजूर अब घर तशरीफ़ ले जायें, मैं समझ लूँगा ।'

नवाब साहब : 'मैं नहीं जाता । अब जो कुछ हुआ, हुआ । और जो कुछ होना होगा, हो जायेगा ।'

शमशेर खाँ (कमर से छुरी निकाल के) : 'जनाब, अमीर अलैशरसलाम की कसम, अभी अपने कलेजे में मार लूँगा । नहीं तो बराए खुदा आप चले जाईये । आप का यहाँ ठहरना अच्छा नहीं ।'

इनमें लोगों ने देखा, खान साहब को गोली कहाँ लगी है । मालूम हुआ, कि जान की खैरियत है, बाजू में गोली लगी है ।

शमशेर खाँ : मैं अर्ज करता हूँ हुजूर तशरीफ़ ले जायें । इस मरदूद को हुआ ही क्या है, आप क्यों बदनाम होते हैं ।'

वाद में नवाब साहब भी कुछ समझ के उठे । एक आदमी, हमारे हाँ से साथ किया गया । हुजूर तशरीफ़ ले गये । खानम ने उसी वक़्त मिर्जा अली रज़ा बेग को बुलवा भेजा । वह चौक में ही थे । फ़ौरन चले आये । खानम ने अलग लेजाकर नहीं मालूम क्या कान में फूँका ? वहाँ से आये तो यह कहते हुए,

'होगा, फ़ौक दो मरदूद को कमरे के नीचे । समझ लिया जायेगा ।'

ख़ैर ! खान साहब को कमरे के नीचे तो नहीं फ़ौका गया । बाजू पर पट्टी बाँधी, डोली बुलवाई गई । खाँ साहब को भी अब किसी क़दर होश आ गया था । मकान का पता पुछा, मालूम हुआ, मुर्ग़ा खाना में रहते हैं । डोली पर बिठा के उनके घर भिजवा दिया । कहारों को समझा दिया था, मकान के करीब, कहीं उतार के चले जाना । चुनाँचे ऐसा ही हुआ ।

सुलतान साहब, कई दिन तक नहीं आये, न उनका आदमी आया । मुझे उन से मुहब्बत सी हो गई थी । यक़ीन था, कि वह अब नहीं आयेंगे और वाकई ऐसा था भी । वज़ादार आदमी, थे । पहले ही जब वह आये थे, आदमी की जबानी, पेशतर बहुत ताक़ीद तख़लिये के लिये कर दी थी । बुझा हुआ नौ ने इक़रार कर लिया था, कि कोई न आने पायेगा । मगर इतनी चूक हो गई,

कि दरवाजे पर किसी को न बिठा दिया । खान साहब, अजरौबी ढेला खुदा जाने कहाँ से आन पड़े । सारा खेल बिगड़ गया । इतिफाक से चार पाँच दिन के बाद एक वारान में, मेरा मुजरा आ गया था । वहाँ सुलतान साहब भी तशरीफ़ रखते थे । मेरा पहला मुजरा, नी बजे रात को शुरू हुआ था । महफ़िल में बात करना कैसा । इशारे का भी मौका न था । एक लड़का, गोरा गोरा, कोई नौ बरस का सिन, भारी कपड़े पहने, सुलतान साहब के पास बैठा था । किमी जरूरत से उठा । मेरा मुजरा हो चुका था । अलहदा कमरे में पेगवाज उतार रही थी । मैंने उसे इशारे से बुलाया, पास बिठाया, एक पान लगा के दिया, पूछा : 'सुलतान साहब को जानते हो ?'

लड़का : 'कौन सुलतान साहब ?'

मैं : 'वह जो दूल्हा के बराबर तुम्हारे पास बैठे थे ।'

लड़का (त्योरी चढ़ा कर) : 'वाह, वह हमारे बड़े भाई हैं । उन्हें ज़रा सुलतान साहब न कहना ।'

मैं : 'अच्छा, तो हम कुछ दें, उन्हें दे दोगे ?'

लड़का : 'कहीं मुझ पर खफ़ा न हों ।'

मैं : 'खफ़ा नहीं होंगे ।'

लड़का : 'और दोगी क्या, पान ?'

मैं : 'पान नहीं । पान तो उनके खसदान में होंगे । यह लो, यह कागज़ दे देना ।' एक पर्चा काग़ज़ का, कमरे में फ़र्श पर पड़ा था । मैंने उसी पर कोयले से यह शेर लिख दिया ,

मुद्दतों से हम हैं महरूम इताब,

बख़्श में आज उनको छोड़ा चाहिये ।

और सपभा दिया, कि यह काग़ज़, उनकी श्राँव बचा के, सामने रख देना । उनको मालूम भी न होगा । लड़के ने ऐसा ही किया । मैं कमरे के पट की आड़ से भाँक रही थी । सुलतान साहब ने वह काग़ज़ उठाया । पढ़ा, तो पहले चेहरे पर कुछ फ़िक्र के आसार जाहिर हुए । फिर थोड़ी देर तक पर्चे को ग़ौर से देखते रहे, इसके बाद मुस्कुरा के जेब में रख लिया ।

शमशेर खाँ को इशारे से बुलाया । उसके कान में कुछ चुपके से कहा । कोई घन्टा भर के बाद शमशेर खाँ हमारे कमरे में आया ।

शमशेर खाँ : 'नवाब साहब ने कहा है कि इस पत्रों का जवाब हमें घर पर जा कर लिख भेजेंगे ।'

दूसरा मुजरा मुद्दह को हुआ था । उस वक्ता, मुलतान साहब महफिल में न थे । उनके वरीर, महफिल मुझे सूनी मालूम होती थी । गाने में दिल न लगता था । आखिर ज्यों त्यों मुजरा खत्म हुआ । मैं घर पर आई । उस दिन, दिन भर शमशेर खाँ का इन्तजार रहा । वारे चिराग जलने के बाद वह आया । नवाब का रुक्का दिया । मजमून यह था;

'तुम्हारे शेर ने उस आग को, जो मेरे दिल में दबी हुई थी, कुरेद कर भड़का दिया । वाकई मुझे तुमसे मुहब्बत है । मगर अपनी बजा से मजबूर हूँ । तुम्हारे मकान पर अब हरगिज न आऊँगा । मेरे एक वेतकलुफ दोस्त नवाज गंज में रहते हैं । कल, मैं तुम्हें वहाँ बुलवा भेजूँगा । बचकते फुसून, चली आता । यही एक सूरत मिलने की है, वह भी नौ दस बजे रात तक ।

शबे बिसाल की क़ोताहिर्षों का शिकवा क्या,

यहाँ तो एक नज़र देखने के लाले हैं ।

मुलतान साहब उस दिन से फिर कभी खानम के मकान पर नहीं आये । हफ्ते में दो तीन मर्तबा नवाज गंज में, नवाब बन्ने साहब के मकान पर, बुलवा भेजते थे । अजब लुफ़ की सोहबत रहता था । कभी शेरों-सख्त का चर्चा हुआ, कभी नवाब बन्ने साहब तबला बजाने लगे, मैं गाने लगी । मुलतान साहब, खुद भी गाते थे । ताल व सम से तो ऐसे कुछ ऐसे वाकिफ़ न थे, मगर अपनी राज़ल आप खूब गा लेते थे ।

कुछ इस तरह से, नज़र बाज़ियों की मशक बढ़ी,

मैं उनको, और वह मेरी नज़र को देखते हैं ।

जब याद आता है, उस जलसे की तस्वीर, आँखों के सामने फिर जाती है । गर्मियों के दिन, शबेमहताब का आलम, बाग़ के सहन में तख़्तों के चौके पर सफ़ेद चाँदनी का फ़र्श है । गाव तकिये लगे हुए, ऐशो आराम के सभी सामान

हाज़िर, बाग़ में तरह तरह के फूल खिले हुए, बेल-चमेली की महक से दिमाग़ बसे हुए। ख़शबूदार गिलौरियाँ, बसे हुए हुक्के, तखलिये का जलमा, आपस की चुहलें, बैतकल्लुफी की बातें। ऐसे ही जलसों में बैठकर दुनिया और दीन का तो जिक्र ही क्या, इम्मान खुदा को भी भूल जाता है। और इसी की सज़ा है कि ऐसे जलमे बहुत ही जल्द बरहम हो जाते हैं और इनका अफ़सोस मरते दम तक रहता है, वल्कि शायद मरने से बाद भी,

लज्जते-मासियते-इश्क़ न पूछ,
ख़ुद में भी यह बला याद आई।

वाक़ई, सुलतान साहब को मुझे और मुझे उनसे मुहब्बत थी। दोनों के मज़ाक़ कुछ ऐसे मिले हुए थे, कि अगर उम्र भर का साथ होता, तो कभी मलाल न होता। सुलतान साहब को शेरों-सखुन का शौक़ था, और मुझे भी बचपन से इसकी लत है। सुलतान साहब से जैसा मेरा दिल मिला, और किसी से नहीं मिला। मुझे यक़ीन है, कि वह भी इसी सबब से मुहब्बत करते थे। बात बात में शेर पढ़ते थे, मैं ज़ाव देती थी। मगर अफ़सोस ! फ़लक ने वह जलसा बहुत जल्द बरहम कर दिया।

दिल यह कहता है, फ़िराक़ै-माहो अंजुम देखकर,

हाय क्या क्या सोहबतें रातों की बरहम हो गईं।

रुसवा : 'अच्छा, वह सब कुछ तो हुआ, आप के क़दम की बरकत से ऐसे ऐसे बहुत से जलमे बरहम हो गये होंगे।'

उमराव जान : 'वाह मिर्जा साहब। तो क्या मेरे दुश्मन बनपीरे हैं ? यह आपने ख़ूब कही।'

रुसवा : 'यह तो मैं नहीं कह सकता। मगर सलामती से जहाँ आप तशरीफ़ ले गईं, सफ़ाई हो गई।'

उमराव जान : 'आप जो चाहिये, कहिये। अगर ऐसा जानती, कि आप यह कहेंगे, तो अपनी आप बीनी हरगिज़ न बयान करती। ख़ैर, अब क्या कुसूर हुआ।'

रुसवा : 'कुसूर ! यही तो आप ने ज़िन्दगी भर में एक काम किया है,

जिस से आपका नाम दुनिया में रह जायेगा। स्वाह नेक नामी के साथ, स्वाह बदनामी के साथ, इसका मैं जिम्मा नहीं करता। अब इस बात को यहीं तक रहने दीजिए। जरा इस गजल के दो तीन शेर और याद हों तो पढ़ दीजिए।'

उमराव जान : 'आप भी आदमी को खूब बनाते हैं।'

रुसवा : 'खैर, बिगाड़ता नहीं। अच्छा अब शेर पढ़िए।

उमराव जान : 'अच्छा सुनिये। एक मतला और दो शेर याद हैं।

दबे दिल की लज्जतें सरक-शबेराम हो गईं,
तूले फुर्कत से बहुत बेताबियाँ कम हो गईं।
वह जो बैठे सोग में, जुलफे रसा खोले हुए,
हसरतें मेरी शरीफे-बदमे-मातम हो गईं।
हमतशीं देखी नहूसत, [दास्ताने-हिज़ की,
सोहबतें जमने न पाईं थीं कि बरहम हो गईं।'

आठ

इसी ज़माने में, नवाब जाफ़र अली खाँ की मुलाज़िम हुई । सिन-शरीफ़ बोई सत्तर बरस के करीब था । मुँह में एक दाँत न था । पुश्त ख़म हो गई थी । सिर में एक बाल स्याह न था । मगर अब तक अपने को प्यार करने के लायक़ समझते थे । हाय, वह उनका केचुली का अँगरखा और गुलबदन का पाजामा, लाल नेफ़ा, मसालादार टोपी, काकुलें बटी हुईं, उम्र भर न भूलेंगी ।

आप कहियेगा, इस उम्र और ऐसी हालत में, रंडी नौकर रखना क्या ज़रूरी था । सुनिये मिर्जा साहब ! उस ज़माने का फ़ैशन यही था । कोई अमीर, रईस ऐसा भी होगा, जिसके पास रंडी न हो ? नवाब साहब की सरकार में, जहाँ और सामान शानो-शौक़त के थे, वहाँ सलामती मनाने के लिये जलूसियों में एक रंडी का भी नाम था । पचहत्तर रुपया माहवार मिलते थे । दो घंटे के लिये मुसाहबत कर के चली आती थी । और तकल्लुफ़ सुनिये, नवाब बूढ़े हो गये थे । मगर क्या मजाल, नौ बजे के बाद दीवानख़ाना में बैठ सकें । अगर किसी दिन इत्तिफ़ाक़ से देर हो गई, दाईं आ के ज़बरदस्ती उठा ले जाती थी । नवाब साहब की बालिदा जिन्दा थीं । उनसे उसी तरह डरते थे, जिस तरह पाँच बरस का बच्चा डरता है । बीबी से भी इन्तहा की मुद्दबत थी । बचपन में शादी हुई थी, मगर सिवाए मुहर्रमे और किसी शव के अन्नहदा सोने का इत्तिफ़ाक़ न हुआ था ।

आप तो हँसते होंगे, मगर मेरे दिल से पूछिए । बेशक प्यार करने के

काबिल थे। इस बुढ़ापे में जिस बक्त सोज पड़ते थे, दिल तोट जाता था।

फने मौसी ती में इनको कमाल था। क्या मजाल कोई उनके सामने गा सके। अच्छे अच्छे गवैयों को टोक दिया। सोजखानी में भी एक ही थे। इनकी मलाजमन से मुझे यह फ़ायदा हुआ, कि सैंकड़ों सोज याद हो गए। दूर दूर तक मेरी शोहरत हो गई। खानम की ताजियादारी तमाम शहर की रडियों से बहचड़ के थी। इमामबाड़ा में पटके, बीशा आलात, जो शैं थी, नादर थी।

मेरी सोजखानी मशहूर थी। ऐसी तरकीबें और किसी को कब याद थीं। बड़े-बड़े सोजखान, मेरे सामने मुँह न खोल सकते थे। इसी सोजखानी की वदौलत, नवाब मलका किशवर के महल तक मेरी रसाई हुई। जहाँपनाह ने, खुद मेरी नौहाखानी की तारीफ़ की। सरकारे शाही से मुझ को बहुत कुछ, हर मुहर्रम में अता होता था।

मरसिया खानों में मेरा नाम था। शब को इमामबाड़े में मातम करके, मुझे दरे-दौलत पर हाज़िर होना पड़ता था। कोई दो बजे रात को वहाँ से आती थी।

जिस ज़माने में बिस्मिल्ला की मिस्सी हुई थी, नवाब छद्मन साहब के चचा कर्बलाए-मुअल्ला गये हुए थे। बिस्मिल्ला की मिस्सी को कोई छ. महीने गुज़रे होंगे, कि वह कर्बला से तशरीफ़ लाये। उनकी लड़की की, नवाब साहब के साथ मैंगनी हो गई थी। उन्होंने आते के साथ ही, शादी पर ज़ोर दिया। नवाब साहब बिस्मिल्ला जान पर मरते थे। इधर बिस्मिल्ला जान ने, घर में बैठ जाने का फ़िक्ररा दे रखा था। साफ़ इन्कार कर दिया। मगर इन्कार चलता कब थक़। शाही ज़माना, उनकी लड़की पर गाली चढ़ चुकी थी। वह कब मानते थे? एक शब को नवाब के मकान पर जलसा है। मुसाहबीन जमा हैं। बिस्मिल्ला नवाब के पहलू में बैठी हुई है। उस रात को बिस्मिल्ला के साथ मैं भी चली गई थी। सामने बैठी हुई गा रही हूँ। नवाब साहब तम्बूरा छेड़ रहे हैं। नवाब के एक मुसाहिब खास, दिलबर हुसैन, तबला बजा रहे हैं। इतने में एक ख़बरदार ने ख़बर दी, कि बड़े नवाब साहब, नवाब साहब के चचा, तशरीफ़ लाते हैं। नवाब साहब ने यह समझा, कि आये हैं तो अन्दर महल में बेगम साहब, नवाब

साहब की बालिदा, के पास जायेंगे । हम सब का भी यही ख्याल था । मगर वह दराना, दीवान खाने में घुसे चले आये । आ के जो देखा, तो यह जलसा है । आग बगला हो गये । खैर, उनके आने के साथ ही गाना तो मौकूफ हुआ, नवाब साहब भी उठ खड़े हुए ।

बड़े नवाब : 'खैर, अब त्राजीम तकरीम को रहने दीजिए । मुझे एक जरूरी बात कहनी है, वरना आप के ऐश में खलल न डालना ।'

नवाब : 'फरमाइये ।'

बड़े नवाब : 'आप बच्चे हैं । आप को मालूम नहीं, मेरे छोटे भाई, नवाब अहमद अली खाँ मरहूम ने, बालिदा मरहूम के सामने इन्तिकाल किया था । कोई हक आपका, इस जायदाद में नहीं है, जिस पर आप काबिज हैं । बेशक बालिदा मरहमा ने आपको बेटा किया था, और मरते वक़्त आप के नाम वसीयत भी कर गई है, मगर वह कोई चीज़ नहीं । सिर्फ़ एक तिहाई जायदाद इस वसीयतनामा के बिना पर आपको मिल सकती है । पर, लोगों के कहने सुनने से ऐसा मालूम होता है, कि आप एक तिहाई से ज्यादा खर्च कर चुके हैं । खैर, तिहाई का मुझको दावा नहीं और ज्यादा की आप से पूछ ताछ न की जायगी, इसलिए कि आप मेरे खूनोजिगर हैं ।

इसके बाद बड़े नवाब साहब की आँखों में पानी आ गया । मगर फिर जव्त कर के बोले : 'आप इस जायदाद पर काबिज और मुतसरफ़ रहते । मेरी जाती जायदाद, मेरे खर्च के लिए उम्र भर काफी है और इस जायदाद के आप ही बारिस होते, मगर आपके बदसलूक ने मुझे मजबूर किया, कि आप को इस जायदाद मोहसी से, बेदखल कर दूँ । बुजुर्गों की तक कमाई, हरामकारी में मिटाने के लिए नहीं है । मुनसिफ़उद्दोला के आदमी मेरे हमराह हैं । इस वक़्त, तमाम घर का तालीका होगा । आप फ़ौरन सबके समेत यहाँ से नशरीफ़ ले आइये ।

नवाब : 'तो इस जायदाद में मेरा कोई हक़ नहीं ?'

बड़े नवाब : 'जी नहीं ।'

नवाब : 'अच्छा, एक तिहाई पाने का मुस्तहक़ हूँ ?'

बड़े नवाब : 'वह आप ले चुके और अगर आपको कुछ दावा है, तो दरे-दौलत पर तशरीफ़ ले चलिए। मेरे नज़दीक आपकी एक कौड़ी नहीं।'।

नवाब : 'अच्छा, तो अम्माँजान को मैं अपने साथ लेता जाऊँगा।'।

बड़े नवाब : 'वह आप से अलग होती हैं, वह मेरे साथ कर्बला जायेंगी।'।

नवाब : 'तो अच्छा, मैं कहाँ जाऊँ ?'

बड़े नवाब : 'यह मैं क्या जानूँ ? यह अपने मुसाहबीन, मुलाजिमीन और माशूका से दरयाफ़्त कीजिये।'।

नवाब : 'अच्छा तो मेरे कपड़े, असबाब वगैरा तो दे दीजिये।

बड़े नवाब : 'इस मकान में आपका कोई असबाब नहीं है। न आपके जाती बनवाये हुए कपड़े हैं।'।

इसके बाद मुतसिफ़उद्दौला के आदमी दीवानखाने में चले आये।

नवाब साहब को सब यार दोस्तों समेत घर से बाहर किया।

हम लोगों ने घर से निकलते ही डोलियाँ किराये पर कीं, चौक का रास्ता लिया। मुसाहबीन और नवाब साहब खुदा जाने कहाँ गये। सुना है, कि मुसाहबीन, एक-एक करके रास्ते ही से रुख़सत हो गये। नवाब के वालिद का एक पुराना मुलाजिम मख़दूम बख़्श, जिसको नवाब साहब ने बेकार समझ कर नौकरी से निवाग़ल दिया था, रास्ते में मिला। उसने हाल दरयाफ़्त किया। इनकी बेक़सी पर तरस खा कर अपने घर ले आया।

नवाब साहब के घर आने के बाद, शय को बिस्मिल्ला के कमरे में जलसा है। मियाँ हसनू, नवाब साहब के खास कारकुन, मुसाहब, दोस्त, जाँनिसार, जहाँ नवाब का पसीना गिरे वहाँ अपना खून गिराने वाले, तशरीफ़ रखते हैं। आज ही कुछ नहीं आये हैं, पहले भी चोरी छिपे आया करते थे। मगर आज खुले खजाने यड़े ठाठ से बैठे हैं। इस वक़्त आप बिस्मिल्ला जान पर, गोया बे शिरकत वाहदे और बिना किसी के दख़ल के क़ाबिज़ हैं। नौकरी की गुफ़्तगू हो रही है।

हसनू : 'देखो बिस्मिल्ला जान ! नवाब से तो अब कोई उम्मीद न रखो। मैं, जो कुछ कहो, वह दे दिया करूँ। ग़रीब आदमी हूँ, क्यादा तो मेरी औज़ात

नहीं। जो नवाब साहब देते थे, उसका निसफ़ भी मुमकिन नहीं। मगर हाँ, किसी न किसी तरह आपको खुश रखूँगा।'

बिस्मिल्ला : 'शरीब आदमी हो, यह नहीं कहते कि नवाब की दौलत काट के घर में भर ली और फिर हमसे शरीबी बयान होती है। ऐसे शरीबी को ताओ, तो नौ मन चर्वी से कम न निकले।'

हसन : 'हैं हैं ! तुम तो ऐसा न कहो, उस नवाब के पास था ही क्या, जो मैं घर भर लेता ? क्या मेरी वालिदा साहबा के पास, कुछ कम था ?'

बिस्मिल्ला : 'आप की वालिदा साहबा, बुआ फ़रखन्दाँ, नवाब सरफ़राज महल की खासा वालियों में थीं न ?'

हसन (भेंप कर) : 'वह जो कोई हों। जब मरी हैं, तो कोई चार हजार का ज़ेवर छोड़ के मरी हैं।'

बिस्मिल्ला : 'वह आपकी बीबी यार के साथ लेकर निकल गईं। आपके पल्ले क्या पड़ा ? मेरे आगे ज़रा शेखी न बघारिये मुझे रत्ती रत्ती आपका हाल मालूम है।'

हसन : 'तो क्या वालिद के पास कुछ कम था ?'

बिस्मिल्ला : 'वालिद आपके, नवाब हसन अली खाँ के चिड़ीमारों में थे।'

हसन : 'चिड़ीमारों में ?'

बिस्मिल्ला : 'अच्छा, मुर्गबाजों में सही।'

हसन : 'मुर्गबाजों में थे ?'

बिस्मिल्ला : 'अच्छा, बटेरबाज सही। था तो चिड़ीमार का काम।'

हसन : 'लीजिये आप तो मज़ाक़ करती हैं।'

बिस्मिल्ला : 'मैं खरी कहती हूँ, इसी से बुरी मशहूर हूँ। और कहती भी ना, तुम्हारे छिछोरेपन पर जी जल गया। यूँ तुम आते थे, मैंने कभी मना नहीं किया। आज ही तो नवाब पर यह वारदात गुजरी, आज ही आपने मेरे मुँह दर मुँह नौकरी का पैग़ाम दिया। होश की दवा करो। तुम क्या नौकर रखोगे ? वही न, एक महीना, दो महीने, तीन महीने सही।'

हसन : 'छः महीने की तनख़्वाह जमा कर दूँ ?'

बिस्मिल्ला : 'जवान से ।'

हसन्न : 'यह लो, (सोने के जड़ाऊ कड़े कमर से निकाल के) तुम्हारे नज्दीक कितने का माल होगा ?'

बिस्मिल्ला : 'मैं देखूँ, (कड़े हसन्न के हाथ से ले के अपने हाथों में पहन लिये) कल छत्रामल के लड़के को दिखाऊँगी । मगर बने अच्छे हैं । अच्छा, अब आप तशरीफ़ ले जाइये । इस वक्त तो मुझे छुट्टन वाजी ने बुला भेजा है, ठहर नहीं सकती । कल इसी वक्त आइयेगा ।'

हसन्न : 'तो कड़े उतार दीजिये ।'

बिस्मिल्ला : 'या अल्ला ! कोई चोरों से व्योहार है । मैं, तुम्हारे कड़े कुछ खा न लूँगी । इस वक्त मेरे हाथ में सादी पटरियाँ पड़ी हुई हैं । अम्माँ जान से छिप के जाती हूँ । उनसे कड़े माँगूगी, तो कहेंगी क्या करोगी ? इसलिये ज़रा हाथ में डाल लिये, सुवह ले जाना ।'

हसन्न : 'कड़े दे दीजिये । मेरे नहीं हैं । नहीं तो क्या बात थी, तुम पर से सक्के किये थे ।'

बिस्मिल्ला : 'तो क्या आपकी अम्माँ के हैं । उन्होंने तो इन्तिकाल किया, फिर भी आपका माल नहीं ।'

हसन्न : 'मैंने यूँ ही तुम्हें दिखाये थे, मेरा माल नहीं है ।'

बिस्मिल्ला : 'जैसे मैं नहीं पहचानती । यह वह कड़े हैं, जो नवाब ने उस दिन मेरे सामने गिरवी को दिये थे ।'

हसन्न : 'लो और सुनो ! यह कब ?'

बिस्मिल्ला : 'यह जब, कि जिस दिन बहन उमराव के मुजरे की फ़रमाइश हुई थी । बहन उमराव ने ज़िद् की, कि मैं पूरे सौ लूँगी । नवाब के पास खर्च न था । मेरे सामने सन्दूक़े से निकाल के कड़े फैंक दिये थे ।' फिर मेरी तरफ़ मुखातिब हो के कहा : 'बहन उमराव, यह वही कड़े हैं ना ?'

मैं : 'मुझ से क्या पूछती हो ? क्या तुम झूठ कहोगी ?'

बिस्मिल्ला : 'ले खसका खाइये । अब यह कड़े आपको न दिये जायेंगे । नवाब के कड़े हैं, हमने पहचाने । अब हम न देंगे ।'

हसन्न : 'लो, अच्छी कही । और वह रुपये जो हमने दिये हैं ।'

विस्मिल्ला : 'रुपये तुम कहाँ से लाये, वह भी नवाब का माल था ।'

हसन्न : 'जी सच ! महाजन से व्याज पर न ला के दिये थे ?'

विस्मिल्ला : 'अच्छा, महाजन को मेज दीजिये, हम उसको रुपये दे देंगे ।

आप टहलिये ।'

हसन्न : 'कड़े तो मैं ले जाऊँगा ।'

विस्मिल्ला : 'मैं तो न दूँगी ।'

हसन्न : 'तो कुछ जबरदस्ती है ?'

विस्मिल्ला : 'जी हाँ, जबरदस्ती है । ले अब चुपके से खिसक जाईये, नहीं तो...'

हसन्न : 'अच्छा, तो रहने दीजिये, कल ही दे दीजियेगा ।'

विस्मिल्ला : 'कल देखा जायेगा ।'

'देखा जायेगा', विस्मिल्ला ने इस तेवर से कहा कि मियाँ हसन्न को चुपके से उठ के चले जाना ही पड़ा ।

बात यह थी, कि नवाब साहब के चचा ने, छव्वन साहब के नौकरों से हिसाब फहमी की । उस वक्त जिस कदर असबाब जिस-जिस की मार्फत गया था, उसको सूद और असल के रुपये देके छुड़ा लिया । हसन्न से जब इस कड़े की जोड़ी के लिए पूछताछ हुई वह तो साफ़ मुकर गया, कि मेरी मार्फत गिरवी नहीं हुए । इसी ने मियाँ हसन्न की कोर बची थी ।

विस्मिल्ला (हसन्न के चले जाने के बाद मुफ़ से) : 'देखा बाजी, यह बड़ा क्राबूची है । नवाब का घर इसी मूजी ने तहस नहस किया । मैं मुद्दत से इस मुए की ताक में थी । आज ही तो बाव पर चढ़ा है । यह कड़े मैं इसको कब देती हूँ । कर ही क्या सकता है ? चोरी का तो माल है ।'

मैं : 'हरगिज न देना । देना है, तो नवाब को दे दो, एहसान होगा ।'

विस्मिल्ला : 'नवाब को भी न दूँगी । वहन, ग्यारह सौ की जोड़ी है । मुए ने सवा दो सौ रुपये पर हथियाली थी । इससे ज्यादा कुछ नहीं । सवा दो सौ हवाले करूँगी । दस बीस सूद के सही ।'

मैं : 'भला महाजन यूँ क्यों देने लगा ।'

विस्मिल्ला : 'महाजन ! इसी ने रुपये दिये थे और और जब बड़े नवाब ने पूछा, तो कैसा मुकर गया । अगर यह कुछ ज्यादा टरफ़्त करेगा तो इनको कोतवाली का चबूतरा दिखाऊँगी ।'

अभी यह बातें हो ही रही थीं, कि नवाब साहब तशरीफ़ लाये । पैदल और अकेले । चेहरे पर उदासी छाई हुई थी । आँखों में आँसू भरे हुए थे । न वह शान न शौकत । न वह रोबोदाव, न वह बेतकलुफ़ी । चुपके से आ के बैठ रहे ।

सब कहें, मेरी तो आँखों में आँसू भर आये । मगर मैंने अपने को रोका । मगर ब्राह्मरी विस्मिल्ला, रंडी हो तो ऐसी हो । आते के साथ ही कड़ों का किस्सा छेड़ दिया ।

विस्मिल्ला : 'नवाब देव्रो, यह वही कड़े की जोड़ी है ना, जो तुमने उस दिन हसन को गिरवी करने को दी थी ।'

नवाब : 'वही हैं । वह तो मुकर गया था, कि मेरे हाथों गिरवी नहीं हुए ।'

विस्मिल्ला : 'कितने पर गिरवी हुए थे ?'

नवाब : 'यह तो याद नहीं, शायद ढाई सौ या सवा दो सौ; कुछ ऐसे ही थे ।'

विस्मिल्ला : 'और सूद क्या था ?'

नवाब : 'सूद का हिसाब किसने किया है । जो चीज गिरवी हुई फिर उसके छुड़ाने की नौबत ही कहाँ आई, जो सूद का हिसाब किया जाता ?'

विस्मिल्ला : 'अच्छा, तो यह कड़े में ले लूँ ?'

नवाब : 'ले लो ।'

विस्मिल्ला : 'कहो तो मियाँ हसन को मिर्जा साहब के पास भेजूँ ?'

नवाब : 'नहीं, मेरे सिर की क्रसम ऐसा न करना, सय्यद है ।'

विस्मिल्ला : 'सय्यद है ? उसके बाप का तो पता नहीं ।'

नवाब : 'खैर, वह तो अपने मुँह से कहता है ।'

मैं, अपने दिल में नवाब की हिम्मत पर आफ़रीन करने लगी । बाहरी हिम्मत, क्या कहना ? खानदानी रईस हैं ना ?

विस्मिल्ला की बेमुरव्वती देखिये । नवाब से भी वही छूटन जान के घर जाने का बहाना करके, उनको सवेरे से रुखसत कर दिया । खुदा जाने किस से बादा था । इस वाक़ये के दूसरे तीसरे दिन का ज़िक्र है, मैं खानम के पास बैठी हूँ, इतने में एक बूढ़ी सी औरत आई । खानम साहब को झुक-झुक के सलाम किया । खानम ने बैठने का इशारा किया । सामने बैठ गई ।

खानम : 'कहाँ से आई हो ?'

बुढ़िया : 'क्या बताऊँ कहाँ से आई हूँ ? कोई है तो नहीं, क्यों ?'

खानम : 'बुआ यहाँ कौन है ? मैं हूँ, तुम हो और यह छोकरी, इसको बात समझने की तमीज नहीं, कहो ।'

बुढ़िया : 'मुझे नवाब फ़ख़रुन्निसा बेगम ने भेजा है ।'

खानम : 'कौन फ़ख़रुन्निसा बेगम साहबा ?'

बुढ़िया : 'ए, तो तुम नहीं जानतीं, नवाब छब्बन साहब.....'

खानम : 'समझी, कहो...'

बुढ़िया : 'बेगम साहबा ने मुझे भेजा है । आप विस्मिल्ला जान की अम्माँ हैं न ?'

खानम : 'हाँ, बात कहो ।'

बुढ़िया : 'बेगम साहबा ने कहा है, कि छब्बन साहब मेरा इकलौता लड़का है । मैं भी उस पर परवाना हूँ और उसका वाप भी परवाना था । मेरे नाज़ों का पाला है, और उसका चचा भी दुश्मन नहीं है । अपनी औलाद से बढ़कर समझता है । उसकी भी एक इकलौती लड़की है, छब्बन की मँगेतर । लड़की पर गाली चढ़ चुकी है । छब्बन ने शादी से इन्कार कर दिया है । इसी पर चचा को बुरा मालूम हुआ । मैंने दखल नहीं दिया । सब नसीहत के लिये किया गया है । तुम्हारी लड़की का उम्र भर का घर है । जो तनख्वाह लड़का देता था, उससे दस ऊपर मुझ से लेता । मगर इतना एहसान मुझ पर करो कि शादी पर राज़ी कर दो । शादी के बाद, सब जायदाद इसी की है । सिवा इस

के और कौन है। मेरी, और चचा की जानोमाल का मालिक है। मगर इतना ख्याल रखो, कि यह घर तबाह न होने पाये। इसमें तुम्हारा भी भला है और हमारा भी ! आइन्दा, तुम को अख्तियार है।'

खानम : 'वेगम साहवा को मेरी तरफ से आदाब तस्लीमात कहना, और अर्ज करना, कि जो कुछ आपने इर्शाद फ़रमाया है, खुदा चाहे, तो वही होगा। मैं आपकी उम्र भर की लौंडी हूँ। मुझसे कोई अमर खिलाफ़ न होगा, खातिर जमा रखिये।'

बुढ़िया : 'मगर वेगम साहवा ने कहा है, कि छद्मन को इसकी खबर न होने पाये। बड़ा जिद्दी लड़का है। अगर कहीं मालूम हो गया, तो हरगिज न मानेगा।'

खानम (मामा से) : 'क्या मजाल ! (मुझसे) देख छोकरी, कहीं किसी से यह यह क्रिस्ता न ले बैठना।'

मैं : 'जी नहीं।'

इसके बाद बुढ़िया ने अर्लहदा ले जा के, खानम से चुपके-चुपके बातें कीं, वह मैंने नहीं सुनीं। मामा के रखसत के वक्त खानम को इतना कहते सुना।

खानम : 'मेरी तरफ से अर्ज करना, इसकी क्या जरूरत थी। हम लोग तो क़दीमी नमकखार हैं।'

बुढ़िया के जाने के बाद, खानम ने बिस्मिल्ला को बुला भेजा और कुछ ऐसे दो अक्षर कान में फूँक दिये, कि अब जो नवाब साहब आये, तो वह आवभगत हुई, कि मुलाजमंत के जमाने में भी कभी न हुई थी।

नवाब साहब बैठे हैं। बिस्मिल्ला से मुहव्वत की बातें हो रही हैं। मैं भी मौजूद हूँ। इतने में खानम साहवा बिस्मिल्ला के कमरे के दरवाजे पर जा के खड़ी हुई।

खानम : 'ए लोगो हम भी आवें ?'

बिस्मिल्ला (नवाब से) : 'ज़रा सरक के बैठो, अम्माँ आती ! (खानम से) आइये।'

खानम ने सामने आते ही नवाब को तीव्र तस्लीमें कीं। मैंने आज के दिन

के सिवा, खानम को इस तरह मुअदब होकर सलाम करते न देखा था ।

खानम (नवाब से) : 'हुजूर का मिजाज कैसा है ?'

नवाब (गर्दन झुका के) : 'खुदा का शुक्र है ।'

खानम : 'खुदा खुश रखे, हम लोग तो दुआ-गो हैं । हजार बढ़ जायें, मगर फिर भी वही टके की मालजादी, आपके हाथ को देखने वाले । आपकी खुदा ने रईस किया है, इस वक्त एक अर्ज ले के हाजिर हुई हूँ । यूँ तो विस्मिल्ला, खुदा रखे साल भर से आपकी खिदमत में है, मगर मैंने अभी आपको तकलीफ नहीं दी । बल्कि हुजूर के सलाम को बहुत कम हाजिर होने का इत्तिफाक हुआ होगा । इस वक्त ऐसी ही जरूरत थी, जो चली आई ।'

खानम तो यह वार्ते कर रही हैं, विस्मिल्ला उनका मुँह देख रही हैं, कि क्या कह रही हैं । मैं किसी कदर बात का पहलू समझे हुए थी । नवाब उसकी तरफ़ देख रहे थे । नवाब का यह हाल है, कि चेहरे से एक रंग जाता है, एक आता है । आँखें भेंपी जाती हैं, मगर चुपके बैठे हैं ।

खानम : 'तो फिर अर्ज कर्हूँ ?'

नवाब : (बहुत ही मुश्किल से) 'कहिये ।'

खानम : (भुझ से) 'जरा बुआ हुसैनी को बुला लेना ।'

मैं गई और बुआ हुसैनी को बुला लाई ।

खानम : (बुआ हुसैनी से) 'बुआ, जरा दुशाले की जोड़ी तो उठा लाना । वही, जो कल बिकने को आई है ।'

'बिकने को आई है ।' इन लफ्जों ने नवाब पर वही असर किया जैसे किसी पर यकायक बिजली गिरे, मगर बहुत जल्द करके चुपके बैठे रहे । इतने में बुआ हुसैनी दुशाला ले आई । कैसा बढ़िया कड़ा हुआ दुशाला, कि बहुत कम देखने में आता है ।

खानम (नवाब को दुशाला दिखा के) : 'देखिये, यह दुशाला कल बिकने आया है । सौदागर दो हजार कहता है । पन्द्रह सौ तक लोगों ने लगा दिये हैं, वह नहीं देता । मेरी निगाह में, सत्तरह बल्कि अठारह तक भी मँहंगा नहीं है । अगर हुजूर परवरिश करें तो इस बुढ़ापे में आपकी बदौलत एक दुशाला तो

और ओठ लूँ ।'

नवाब खामोश बैठे रहे । बिस्मिल्ला कुछ बोला ही चाहती थीं कि खानम ने कहा,

खानम : 'जहर लड़की, तू हमारे बीच में न बोलना । तू तो आये दिन फरमाइश किया करती है, एक फरमाइश हमारी भी सही ।'

नवाब फिर चुपके बैठे हैं ।

खानम : 'उई नवाब ! सखी से सूम भला जो तुस्त दे जवाब । कुछ तो इरशाद कीजिये । चुप रहने से तो बन्दी को तसक्कीन न होगी । हाँ न सही, ना सही, कुछ तो कह दीजिये । मेरे दिल का अरमान तो निकल जाये ।'

नवाब अब भी चुप हैं ।

खानम : 'लिललाह हुजूर ! जवाब दीजिये । यूँ तो मेरी हकीकत ही क्या है । मुई बाजारी कस्बी, मगर आप ही लोगों की इज्जत दी हुई है । बराए खुदा इन छोकरीयों के सामने तो मुझ बुढ़िया को जलील न कीजिये ।'

नवाब (आवदीदा होकर) : 'खानम साहब ! इस दुसाले की कोई असल नहीं है, मगर तुमको शायद मेरा हाल मालूम नहीं । क्या बिस्मिल्ला जान ने कुछ नहीं कहा ? और उमराव जान भी तो उस दिन थीं ।'

खानम : 'मुझसे किसी ने भी कुछ नहीं कहा । क्यों ? खैर तो है ?'

बिस्मिल्ला फिर कुछ बोलने को थीं, कि खानम ने आँख का इशारा किया, वह चुप रहीं । टाल के इधर-उधर देखने लगीं । मैं पहले ही से बुत बनी बैठी थी ।

नवाब : 'अब हम इस क़ादिल नहीं रहे, जो आपकी फरमाइशों को पूरा कर सकें ।'

खानम : 'आपके दुश्मन इस क़ादिल न रहे हों, और मैं भी ऐसी छिछोरी नहीं, जो रोज़ फरमाइश किया कखूँ । फरमाइशें करें न करें बिस्मिल्ला करें । भला मैं बूढ़ी आढ़ी, मेरी फरमाइशें क्या और मैं क्या ?'

यह कह के खानम ने एक आह सँभरी, फिर कहा : 'हाय तक्रदीर अब हम हम इस लायक हो गये, कि ऐसे ऐसे रईस एक ज़रा से चीथड़े के लिये हम से

मुँह छिपाते हैं ।'

मैं देव रही थी, कि खानम का एक एक फिकरा नवाब के दिल पर नश्वर का काम दे रहा था ।

नवाब : 'खानम साहब, आप सब लायक हैं । मैं नच कहा हूँ, मैं अब इस लायक नहीं रहा, जो किमी की फ़रमाइश पूरी करूँ ।

इसके बाद नवाब ने अपनी तबाही का मुहसिर हाल कहा ।

खानम : 'खैर मियाँ ! इस लायक तो आप नहीं रहे कि एक अदना सी फ़रमाइश पूरी करें; तो फिर लीडी के मकान पर आना क्या फ़ज्र था । हुजूर को नहीं मालूम, कि बेसवाएँ तो चार पैरों की मीत होती हैं । क्या आपने यह मिसल नहीं सुनी, कि रंडी किसकी जोर ? हम लोग मुरब्बत करें, तो खायें क्या ? भूँ आईये, आपका घर है । मैं मना नहीं करती, मगर आपको अपनी इज़्जत का खुद ही खयाल करना चाहिये ।

यह कह के खानम फ़ौरन कमरे से चली गई ।

नवाब : 'वाकई मुझ से बड़ी ग़लती हुई, अब इन्शाअल्लाह न आऊँगा ।'

यह कह के वह उठने को थे, कि बिस्मिल्ला ने दामन पकड़ के बिठा लिया ।

बिस्मिल्ला : 'अच्छा, तो इस कड़े की जोड़ी के बारे में क्या कहते हो ।'

नवाब (किसी कदर चिड़ कर) : 'मैं नहीं जानता ।'

बिस्मिल्ला : 'ए वाह, तो तुम बिलकुल ही खफ़ा हो गये । जाते कहाँ हो, ठहरो ।'

नवाब : नहीं बिस्मिल्ला जान, अब मुझको जाने दो । अब मेरा आना बेकार है । जब खुदा हमारे दिन फेरगा, तो देखा जायेगा । और अब क्या दिन फिरेंगे ?'

बिस्मिल्ला : 'मैं तो न जाने दूँगी ।'

नवाब : 'तो क्या अपनी अम्मा से ज़ुतियाँ खिलवाओगी ?'

बिस्मिल्ला (गुफ़ते) : 'हाँ सच तो है वहन उमराव ! आज यह बड़ी बी को हुआ क्या था । बरसों हो गये, मेरे कमरे में आज तक भाँकी नहीं । आज

आई' भी, तो क्यामत बरपा कर गई' । भई अम्माँ चाहे खफा हो जायें, चाहे खुश हों, मैं नवाब से रस्म नहीं तर्क कर सकती । आज नहीं है इनके पास, न सही । ऐसी भी क्या आँखों पर टीकरी रख लेना चाहिये । आखिर वही नवाब हैं, जिनकी ददौलत हजारों रुपये अम्माँ जान ने पाये । आज जमाना इनसे फिर गया, तो क्या हम भी तोते की तरह आँखें फेर लें ? घर से निकाल दें ? यह हरगिज नहीं हो सकता । अब अगर अम्माँ ज्यादा तंग करेंगी तो बहुत उमराव, मैं सच कहती हूँ, नवाब साहब का हाथ पकड़ के किसी तरफ़ को निकल जाऊँगी । लो, मैंने तो अपने दिल की बात कह दी ।

मैं बिस्मिल्ला की बातें बहुत अच्छी तरह समझ रही थी । हाँ मैं हाँ मिला रही थी ।

बिस्मिल्ला : 'अच्छा तो नवाब तुम कहाँ रहते हो ?'

नवाब : 'कहाँ बताऊँ ?' •

बिस्मिल्ला : 'आखिर कहीं तो ।'

नवाब : 'तहसीनगंज में मखदूम बख्श के मकान पर रहता हूँ । अफ़सोस, मैं न जानता था, कि मखदूम ऐसा नमक हवाला आदमी है । सच तो यह है, मैं उस से बहुत ही शर्मिन्दा हूँ ।'

मैं : 'यह वही मखदूम बख्श है ना, जो आपके वालिद के वक्त से लीकर था, जिसको आपने मौकूफ़ कर दिया था ?'

नवाब : 'हाँ, वही मखदूम बख्श, क्या कहूँ ? इस वक्त वह कैसा काम आया । खैर, अगर खुदा ने चाहा.....'

इतना कह के नवाब की आँखों से टप टप आँसू गिर पड़े । इसके बाद, नवाब, बिस्मिल्ला से दामन छुड़ा के बाहर चले गए । मेरा इरादा था, कि नवाब से चलते वक्त कुछ बातें कहेगी और इसीलिए उनके साथ ही उठी थी, मगर वह इस क्रूर जल्द, जीने से उतर गये कि मैं कुछ कह न सकी । नवाब के तेवर इस वक्त बहुत बुरे थे । खानम की बातों ने नवाब के दिल पर सख्त असर किया था । उनकी हालत बिल्कुल मायूसी की थी । अगरचें मुझे मालूम था, कि यह सब बातें, खानम ने जो की हैं, वह सब उस फ़रमायश की तमहीद

है जो किसी और वक्त पर मौकूफ रखी गई है । मगर मुझे बहुत ही फ़िक्र थी, कि देखिए क्या होता है । ऐसा न हो कि कुछ खा के सो रहें, तो और ग़ज़ब हो ।

सरे शाम, मैं और बिस्मिल्ला सवार हो कर तहसीनगंज गये । मखदूम बख्श का मकान बड़ी मुश्किल से मिला । कहारों ने उसके दरवाजे पर आवाज दी । एक छोटी सी लड़की अन्दर से निकली, उस से मालूम हुआ कि मखदूम बख्श घर पर नहीं हैं । नवाब को पूछा । उसने कहा, वह सुबह से कहीं ग-न हुए हैं, अभी तक नहीं आये । दो घंटे तक इन्तज़ार किया, न नवाब साहब आए न मखदूम बख्श । आखिर मायूस हो कर घर चले आये ।

दूसरे दिन सुबह को मखदूम बख्श, नवाब को ढूँढ़ता हुआ आया । मालूम हुआ, कि रात को भी उसके मकान नहीं गये । शाम को उनकी वालिदा की मामा, वही बुढ़िया जो एक दिन खानम के पास आई थी, रोती पीटती आई । उस से भी यही खबर मिली, कि नवाब का कहीं पता नहीं है । बेगम साहबा ने रोते रोते अपना अज़ब हाल किया । बड़े नवाब सख्त फ़िक्र में हैं ।

इस बातका कोई दिन गुज़र गए और नवाब छद्मन साहब का कहीं पता नहीं मिला । इसके चौथे पाँचवें रोज़, छद्मन साहब की अँगूठी, नखास में बिकती हुई पकड़ी गई । बेचने वाले को अली रज़ा बेग कोतवाल के पास ले गये । उसने कहा, 'मुझे इनाम बख्श साहबी के लड़के ने बेचने को दी है ।' इमाम बख्श साहबी का लड़का तो न मिला । खुद इमाम बख्श पकड़ बुलाया गया । पहले तो इमाम बख्श साफ़ मूकर गया, कि इस अँगूठी को नहीं जानता । आखिर जब मिर्जा ने खूब डाँटा और धमकाया, तो कबूल दिया ।

इमाम बख्श : 'हुज़र ! मैं लवे दरिया हुक्का पिलाता हूँ । जो लोग दरिया नहाने जाते हैं, उनके कपड़ों की रखवाली करता हूँ । पाँच दिन का ज़िक्र है, एक शरीफ़ज़ादे, कोई बीस बाईस बरस की उम्र होगी, गोरे से थे, बहुत खूबसूरत नौजवान । सरे शाम, पक्के पुल पर नहाने आये । कपड़े उतार कर मेरे पास रखवा दिए । मुझ से लुंगी ले के वाँची । खुद दरिया में कूद पड़े । थोड़ी देर तक नहाया किए, फिर मेरी नज़रों से ओझल हो गए । और सब

लोग दरिया से नहा नहा के निकले, कपड़े पहन पहन के अपने घरों को खाना हो गए । वह, मैं यह समझा कि किसी तरफ़ तैरते हुए निकल गए होंगे । बड़ी देर हो गई । मैं इस आसरे से था, कि अब आते हैं, अब आते हैं । पहर रात गये तक बैठा रहा । आखिर मुझे यकीन हो गया, कि डूब गए हैं । अब दिल मैं यह सोचा, कि अगर किसी को खबर करता हूँ, तो भगड़ों में फँस जाऊँगा, खिचा खिचा फिरेगा । इससे बेहतर है कि चुप हो रहूँ । कपड़े उठा के घर ले आया । जब मैं यह अँगूठी निकली और एक और अँगूठी है, इसमें खुदा जाने क्या लिखा है । मैंने मारे डर के आज तक किसी को नहीं दिखाई । मैं तो इस अँगूठी को भी न बेचता, मगर मेरा लड़का शोहदा हो गया है, वह चुरा के ले आया ।

मिर्जा अली रजा बेग ने, दो सिपाही कोतवाली से साथ किये, वह अँगूठी और कपड़े उसके घर से मँगवाये । अँगूठी मोहर की थी । मिर्जा अली रजा बेग ने बड़े नवाब को इस हादसे की खबर की । कपड़े और दोनों अँगूठियाँ घर भिजवा दीं । इमाम बख्श को सजा हो गई ।

विस्मिल्ला : 'हा हा, आखिर नवाब छब्बन साहब डूब गये ना ? मैं तो मच कहूँ, अम्माँ जान की गर्दन पर उसका खून हुआ ।'

मैं : 'अफ़सोस ! मेरे तो उसी दिन दिल में खटक गई । इसीलिये उस दिन उनके साथ उठी थी, कि कुछ समझा दूँगी । मगर वह ज़िने से उतर ही गये ।'

विस्मिल्ला : 'उन के सिर पर क़ज़ा सवार थी । खुदा शारत करे बड़े नवाब को, न उनको जायदाद से बेहक़ करते, न वह अपनी जान देते ।

मैं : 'खुदा जाने, माँ का क्या हाल हुआ होगा ?'

विस्मिल्ला : 'सुना है, बेचारी दीवानी हो गई हैं ।

मैं : 'जो हो, कम है । यही तो एक अल्लाह आमीन लड़का था । एक तो बेचारी राँड बेवा, दूसरे यह आफ़त उनके सिर पर दूट पड़ी । सच पूछो, तो उनका तो घर ही तबाह होगया ।'

रसवा : 'तो नवाब छब्बन साहब को आप ने जुबो ही दिया । अच्छा, इस मौक़े पर एक बात और मुझे पूछ लेने दीजिये ।'

मैं : 'पूछिये ।'

रसवा : 'नवाब साहब पैरना जानते थे या नहीं ।'

मैं : 'क्या मालूम । यह आप क्यों पूछते हैं ?'

रसवा : 'इसलिए, कि मुझे मीर मछली साहब ने एक नुक्ता बता दिया था, कि जो शख्स तैरना जानता है, वह अपने आप से नहीं डूब सकता ।'

कुछ उनको इम्तिहाने वफ़ा से शरज़ न थी,

इक ज़ारो नातवाँ के सताने से काम था ।

उमराव जान : 'मिर्ज़ा रसवा साहब ! आपको किसी से इश्क़ भी हुआ है ?

रसवा : 'जी नहीं खुदा न करे । आपको तो सैकड़ों से इश्क़ हुआ होगा ।

आप अपना हाल कहिये, ऐसी ही बातें सुनने के तो हम मुश्ताक़ हैं, मगर आप कहती ही नहीं ।'

उमराव जान : 'मेरा रंडी का पेशा है, और यह हम लोगों का चलता हुआ फ़िक़र है । जब हमसे ज़्यादा किसी को जाल में लाना होता है तो उस पर मरने लगते हैं । हम से ज़्यादा किसी को मरना नहीं आता । ठंडी सौतें भरना, बात-बात पर रो देना, दो दो दिन खाना न खाना, कुँएँ में पैर लटका के बैठ जाना, संखिया खा लेना, यह सब कुछ किया जाता है । कैसा ही सख़्त दिल आदमी क्यों न हो, हमारे फ़रेब में आ ही जाता है । मगर आप से सच कहती हूँ, किन मुझसे किसी को इश्क़ हुआ और न मुझको किसी से । अलबत्ता, बिस्मिल्ला जान को इश्क़ बाज़ी में बड़ा रियाज़ हासिल था । इन्सान तो इन्सान, फ़रिशता उनके जाल से नहीं निकल सकता था । हजारों उनके आशिक़ थे और वह हजारों पर आशिक़ थीं । सच्चे आशिक़ों में, एक मौलवी साहब क़िबला का भी चेहरा था । ऐसे वैसे मौलवी न थे । अरबी की ऊँची ऊँची किताबों का पाठ पढ़ाते थे । दूर दूर से लोग उनसे पढ़ने आते थे । जिस ज़माने का, मैं ज़िक़र करती हूँ, सिन शरीफ़, सत्तर से कुछ कम ही होगा । नूरानी चेहरा, सफ़ेद दाढ़ी

सिर मुँडा हुआ, उस पर पगड़ी, लम्बा चोगा, लाठी मुबारक। उनकी सूरत देख कर कोई नहीं कह सकता था, कि आप एक छेंटी हुई, शोख, नौजवान रंडी पर आशिक हैं, और इस तरह आशिक हैं।

एक दिन का वाक्या अर्ज करती हूँ। इसमें किसी तरह का मुवाला न समझिये, बिल्कुल सही सही है। आपके दोस्त मीर साहब मरहूम, जिनका दिलवर जान से ताल्लुक था, खुद शायर थे और उम्दा अशआर पर दम देते थे। इसी मिलमिले में हुस्न परस्ती का भी शौक था, मगर निहायत ही माकूलियत के साथ। शहर की बजादार रंडियों में कौन ऐसी थी जहाँ वह न जाते हों।

रुसवा : 'जी हाँ कहिये, मैं खूब जानता हूँ। खुदा उनके दरजात आला करे।'

उमराव जान : 'वह भी इस मौक़े पर मौजूद थे। शायद आपको याद हो। बिस्मिल्ला जान, खानम से लड़ के कुछ दिनों के लिये उस मकान में जा कर रही थीं, जो बजाजे के पिछवाड़े था।'

रुसवा : 'मैं उस मकान पर कभी नहीं गया।'

उमराव : 'खैर। मगर बिस्मिल्ला के देखने के लिये और इस गरज़ से भी, कि मैं बेटियों में मिलाप करादूँ, मैं अक्सर जाया करती थी। एक दिन करीब शाम, सेहन में तरुणों के चौके पर, गाव से लगी बैठी हूँ। मीर साहब मरहूम, उन के करीब तशरीफ़ रखते हैं। मौलवी साहब क़िबला, सामने दो जानूँ बैठे हुए हैं। इस वक़्त उनकी बेक़सी की सूरत, मुझे कभी न भूलोगी। जैतून की तस्रीह, चुपके चुपके, या हकीज़ या हकीज़ पड़ रहे हैं। मैं जो गई, तो बिस्मिल्ला ने हाथ पकड़ के मुझे बराबर बिठा लिया। मैं, मीर साहब और मौलवी साहब को तस्लीम कर के बैठ गई। बिस्मिल्ला ने चुपके से मेरे कान में कहा, 'तमाशा देखोगी?'

मैं (हैरान होकर) : 'क्या तमाशा?'

बिस्मिल्ला : 'देखो।' यह कह के मौलवी साहब की तरफ़ मुतवज्जेह हुई।

मकान के सेहत में बहुत पुराना एक नीम का दरख्त था । मौलवी साहब को हुक्म हुआ, 'इस दरख्त पर चढ़ जाओ ।'

मौलवी साहब के मुँह पर हवाईयाँ उड़ने लगीं, थर थर काँपने लगे । मैं जमीन पर गिरी पड़ी जाती थी । मीर साहब मुँह फेर के बैठ गये । मौलवी साहब बेचारे, कभी आसमान को देखते थे कभी विस्मिल्ला की सूरत को । वहाँ एक हुक्म कर के दूसरा हुक्म पहुँचा और प्रौरन, तीसरा नःदरी हुक्म 'चढ़ जाओ, वहती हूँ ।'

अब मैंने देखा, कि मौलवी साहब 'विस्मिल्ला' कह के उठे । चोगे शरीफ को तल्लों के चौके पर छोड़ा । नीम की जड़ के पास खड़े हुए, फिर एक मर्तबा विस्मिल्ला की तरफ देता । उसने एक जरा ची बजबीं हो के कहा 'हूँ ।'

मौलवी साहब पाजामा चढ़ा के दरख्त पर चढ़ने लगे । थोड़ी दूर जा कर विस्मिल्ला की तरफ देखा । इस देखने का शाब्द यह मतलब था कि बम या और ?' विस्मिल्ला ने कहा : 'और ।'

मौलवी साहब और चढ़े । फिर हुक्म का इन्तजार किया । फिर वही 'और' । इस तरह दरख्त की फुनगी के पास पहुँच गये । अब अगर और ऊपर जाते, तो शाखें इस कदर पतली थीं, जरूर ही गिर पड़ते, और जान बहक खत्म हो जाते । विस्मिल्ला की ज़बान से 'और' निकलने ही को था, कि मैं क्रदमों पर गिर पड़ी । मीर साहब ने निहायत मिलात के साथ सिफारिश की । बाँरे हुक्म हुआ 'उतर आओ ।' मौलवी साहब, चढ़ने को तो चढ़ गये मगर उतरने में बड़ी दिक्कत हुई । मुझे तो ऐसा मालूम होता था, अब गिरे और जब गिरे । मगर बख़ैरो आफ़ियत उतर आये । बेचारे पसीने पसीने हो गये । दम फूल गया । करीब आये, अपना चोगा पहना, चुपके बैठ गये, तस्बीह पढ़ने लगे । बैठ तो गये मगर किसी पहलू करार न था । चीटे, चोगे शरीफ में घुस गये थे । इस से बहुत परेशान थे ।

रुसवा : 'भई वल्लाह, विस्मिल्ला भी अजब दिलगीबाज़ रंडी थी ।'

उमराव जान : 'दिलगी का क्या ज़िक्र है ? वह बेदर्द चुपकी बैठी थी । तबस्सुम का असर भी चेहरे पर न था । मैं और मीर साहब दोनों दम बख़ुद

थे । एक अजीब आलमे हैरत तारी था ।

रहेगा क्यों कोई तर्ज सितम बाक्री जमाने में,
मजा आता है उस काफ़िर को उलफ़त आजमाने में ।'

हसवा : 'यह जुगला उम्र भर हँसने के लिये काफ़ी है ।' तस्सवुर शर्त है । तुम ने तो बयान किया और मेरी आँखों के सामने बिस्मिल्ला, मौलवी साहब और उनकी मुक़द्दस सूरत, मीर साहब, तुम, सेहन, नीम का दरख़्त, इन सबकी तस्वीरें खिंच गई । यह तो कुछ ऐसा वाक़या है कि दफ़ातन हँसी भी नहीं आती । अच्छा, गौर कर लूँ तो हँसूँ । ना साहब ! मुझे हँसी नहीं आती, मौलवी साहब की हिमाक़त पर रोना आता है । बेशक बिस्मिल्ला क़यामत की रंडी थी । सत्तर बरस का बुढ़ा, इस पर यह हुक़म दरख़्त पर चढ़ जाओ' और वह भी चढ़ गये । मेरी कुछ समझ में नहीं आता । बड़ा टेढ़ा मसला है ।'

उमराव जान : 'वाकई, आप नहीं समझ सकते । इसमें क़यामत की वारीकी है । आखिर बयान ही करना पड़ा ।'

हसवा : 'लिल्लाह बयान कीजिये । क्या अभी कुछ और फ़ज़ीहत बाक्री है ?'

उमराव जान : 'अभी बहुत सी फ़ज़ीहतें बाक्री हैं, ले सुनिये । मौलवी साहब के जाने के बाद मैंने बिस्मिल्ला से पूछा,

मैं : 'बिस्मिल्ला ! यह तुम्हको क्या हुआ था ।'

बिस्मिल्ला : 'क्या ?'

मैं : 'सत्तर बरस का बुढ़ा और जो दरख़्त पर से गिर पड़ता तो मुफ़्त में खून होता ।

बिस्मिल्ला : 'हमारी बला से खून होता । मैं तो इस मुए बुढ़े से जली हुई हूँ । कल मेरी धन्नी को इस जोर से दे पटखा, कि हड्डी पसली टूट गई होती ।'

बात यह थी, कि बिस्मिल्ला जान ने एक बँदरिया पाली थी । उसका बड़ा गहरा सुहाग था । ज़रा उसके ठाठ सुन लीजिये । इतलस की घघरिया, कामदानी की कुरती, गले में धूँधरू, सोने की बालियाँ । जलेबियाँ, इमरतियाँ

खाने को । जब मोल ली, तो जरा सी थी । दो तीन बरस में खूब खा खा के मोटी हुई थी । जो लोग जानते थे, वह तो छौर, अजनबी आदमी पर जा गिरे तो धिग्धी बँध जाय । जोर भी इतना था कि, अच्छे मर्द का हाथ पकड़ ले, तो छुड़ाये न छोटे ।

जिस दिन मौलवी साहब नीम पर चढ़ाये गये हैं उससे एक दिन पहले का जिक्र है, कि आप तशरीफ़ लाये । तहनों के चौके पर बैठे हुए थे, कि बिस्मिल्ला जान को मसख़रापन सूझा । धनो को इशारा किया । वह पीछे से चुपके आई और उचक के मौलवी साहब के कंधे पर जा बैठी । मौलवी साहब ने जो मुड़ के देखा, बेचारे घबरा गये । जोर से भटक दिया । यह तख़्त के निचे गिर पड़ी । मैं तो जानती हूँ खुद चली गई होगी । मौलवी साहब पर खूँ खियाने लगी, मौलवी साहब ने लाठी दिखाई । वह डर के मारे बिस्मिल्ला की गोद में जा बैठी । बिस्मिल्ला ने उसे तो चुमकार कर दोपट्टे का आँचल ओढ़ा दिया और मौलवी साहब को खूब दिल खोलकर कोसा, गालियाँ दीं । इस पर भी सब्र न आया । दूसरे दिन यह सज़ा तजवीज़ की ।

रुसवा : 'सज़ा मुनासिब थी ।'

उमराव जान : 'मुनासबत में तो कोई शक नहीं । मौलवी साहब को खटके का लंगूर बना दिया ।'

रुसवा : 'वाकई मौलवी साहब लायक़े-सज़ा तो थे । कैसे ने तो लैला के कुत्ते को प्यार करके गोद में उठा लिया और मौलवी साहब ने बिस्मिल्ला जान की चहेती बँदरिया को अब्बल तो भटक दिया, और फिर यह बेअदबी कि उसे लाठी दिखाई । यह इश्क़ की शान से बहुत दूर था ।

एक दिन रात के आठ बजे बिस्मिल्ला जान के कमरे में हूँ । बिस्मिल्ला गा रही हैं, मैं तम्बूरा छेड़ रही हूँ । खलीफ़ा जी तबला बजा रहे हैं । इतने में मौलवी साहब क्रिबला तशरीफ़ लाये ।

बिस्मिल्ला (देखते ही) : 'आठ दिनों से तुम कहाँ थे ?'

मौलवी साहब : 'क्या कहूँ, मुझे तो ऐसा तेज़ बुख़ार आया था, कि बचना मुश्किल था । मगर तुम्हारा दीदार करना था, इसलिये बच गया ।'

विस्मिल्ला जान : 'तो यह कहिये, 'बिसाले-खुदा' हो गया होता, इस फिकरे ने मुझको और खलीफा जी को फड़का दिया ।'

मौलवी साहब : 'जी हाँ, आसार तो कुछ ऐसे ही थे ।

विस्मिल्ला : 'बल्लाह, अच्छा होता ।'

मौलवी साहब : 'मेरे मरने से आपको क्या नफ़ा होता ?'

विस्मिल्ला : 'जी, आप के उर्स में हर साल जाया करते । गाते नाचते, लोगों को रिभाते, आपका नाम रौशन करते ।'

इस तरह की चंद बातों के बाद, गाना शुरू हुआ । विस्मिल्ला ने हसब मौका यह ग़ज़ल शुरू की ।'

मरते मरते न क़ज़ा याद आई,

उसी क़ाफ़िर की अद याद आई ।

मौलवी साहब पर वज्र की हालत तारी थी । आँसुओं का तार बँधा हुआ था । क़तरे दाढ़ी से टपक रहे थे । इतने में सामने वाला दरवाज़ा खुला और एक स-हब, गन्धुमी रंग, मोल चेहरा, स्याह दाढ़ी, म्याना क़द, कसरती बदन, जामदानी का अँगूरदा फँसा फँसा पहने हुए, खुले पायचों का पाजामा, मख-मली जूता, निहायत उम्दा जाली पर की चिकन का ख़माल ओढ़े हुए दाखिल हुए । विस्मिल्ला ने देखते ही कहा : 'वाह साहब ! उस दिन के गये आज आप आये ? ले, बस अब टहलिये, मैं ऐसी आशनाई नहीं रखती, और वह लाल ताकी गरंट के ताक़े कहाँ हैं ? इसी से तो आप ने मुँह छिपाया ।'

वह साहब (जरा झुकके) : 'नहीं सरकार ! यह बात नहीं है । उस दिन से मुझे फ़ुर्त नहीं मिली । वालिद की तबीयत बहुत अलील थी । मैं उनकी तीमारदारी में था ।'

विस्मिल्ला : 'जी हाँ ! आप ऐसे ही सम्राटमन्द हैं, मुझे यकीन है । यह नहीं कहते, कि बच्चन की छोकरी पर आप फ़रेज़ता हैं, और रात को वहीं दरबारी होती है । मुझे सब खबरें मिलती हैं और हम से फ़िकरे होते हैं, कि वालिद की तबीयत अलील थी ।

इस आवाज़ को सुन के एक धार मौलवी साहब ने पीछे मुड़ के देखा ।

उनकी आँखें चार हुई। मौलवी साहब ने क्रौरन मुँह फेर लिया। दूसरे साहब को जो देखती हूँ, तो चेहरे का रंग उड़ गया। हाथ पाँव थर थर काँपने लगे। जल्दी से दरवाजा खोल के कमरे के नीचे थे। बिस्मिल्ला पुकारती की पुकारती रही। उन्होंने जवाब तक न दिया।'

बिस्मिल्ला भी कुछ समझ के पहले तो झुप सी हो गई, मगर फिर एक मर्तबा तयारी चढ़ा के आप ही आप कहने लगी 'फिर वादाव' इतना कद के गाने में मग्न हो गई।

उस दिन के बाद, मैं ने उनको कभी बिस्मिल्ला के पास आते नहीं देखा। मौलवी साहब बराबर आया किये।

रसवा : 'जी हूँ, अगले जमाने के लोग ऐसे ही वजादार होते थे।

गाना हो रहा था, कि गौहर मिर्जा शायद यह सुनके कि मैं यहाँ हूँ, चले आये। इन से और बिस्मिल्ला से हँसी होती थी। गाली गलौच से लेके कुश्तम कुश्त तक नौबत पहुँच जाती थी। मेरा मित्राज ऐसा छिछोरा न था, कि मैं बुरा मानती।

गौहर मिर्जा मेरे और बिस्मिल्ला के बीच में बैठ गया और भप से बिस्मिल्ला के गले में हाथ डाल दिये।

गौहर मिर्जा : 'आज खूब गा रही हो। जी चाहता है.....।'

अब जो देखती हूँ तो मौलवी साहब की झुर्रियों में हरकत होने लगी। एक ही मर्तबा, गौहर मिर्जा की निगाह मौलवी साहब पर जा पड़ी। पहले तो बग़ीर सूरत देखी। फिर अपना कान जोर से पकड़ा, भिन्नक के पीछे हटा। यह मालूम होता था, कि गोया आप डर गये। बिस्मिल्ला इस हरकत पर बेतहाशा हँस पड़ी। खलीफ़ा जी मुस्कराने लगे। मैंने मुँह पर रुमाल रख लिया, मगर मौलवी साहब बहुत ही चीं बजवीं हुए। बल्कि क्रोव था कि उठ जायें। मगर बिस्मिल्ला ने कहा, 'बैठो;' वेचारे बैठ गये। बिस्मिल्ला भी क्या ही शरीर थी, मौलवी साहब पर यह जाहिर करना मंजूर था, कि गौहर मिर्जा मेरे आशना हैं, ताकि मौलवी साहब देख के जलें। गौहर मिर्जा से हँसना शुरू किया। बड़ी देर तक मौलवीसाहब को इस धोखे में रखा। और

इनका वह हाल, जैसे कोई अंगारों पर लोट रहा हो। भुलसे जाते हैं। मारे हँसी के, मेरे पेट में बल पड़े जाते हैं। आखिर मौलवी साहब की बेक़सी पर मुझे रहम आया। मैंने भाँड़ा फोड़ दिया। इसमें बिस्मिल्ला मुझसे नाराज़ हो गईं। मैंने गौहर मिर्जा की तरफ़ मुतवज्जेह होके कहा : 'ले अब मनचलापन कर चुके, चलो।'

अब मौलवी साहब को मालूम हो गया कि गौहर मिर्जा से मुझसे रस्म है, बिस्मिल्ला से कोई वास्ता नहीं। बहुत ही खुश हुए। बाछें खिल गईं।

रुसवा : 'मौलवी साहब से तो पाक मुहब्बत थी न ?'

उमराव जान : 'पाक मुहब्बत थी।'

रुसवा : 'फिर उनको जलना न चाहिये था।'

उमराव जान : 'वाह ! क्या पाक मुहब्बत में रश्क नहीं होता है।'

रुसवा : 'तो पाक मुहब्बत न होगी।'

उमराव जान : 'अब यह उनका ईमान जाने। मैं तो यही समझती थी।'

दस

खानम की तौचियों में, यूँ तो मेरे सिवा हर एक अच्छी थी, मगर खुरशीद का जवाब न था। परी की सूरत थी। रंग मँदा जैसा नाक नक्शा ऐसा, गोया कुदरत ने अपने हाथ से बनाया था। आँखों में यह मालूम होता था कि मोती कूट-कूट के भर दिये हैं। हाथ पाँव सुडौल, तूर के साँचे में ढले हुए, भरे-भरे बाजू, गोल-गोल कलाईयाँ। जामाजेबी वह क्रयामत की, कि जो पहना, मालूम हुआ कि यह इसी के लिये मुनासिब था। अदाओं में वह दिलफरेबी, वह भोलापन, जो एक नजर देखे हजार जान से फरेफ़ता हो जाय। जिस महफ़िल में जाके बैठ गई, मालूम हुआ कि एक शमा रौशन हो गई। बीसियों रंडियाँ बैठी हों, नजर इसी पर पड़ती थी। यह सब कुछ था, मगर तक्रदीर की अच्छी न थी। और तक्रदीर को भी क्यों इल्जाम दीजिये, खुद अपने हाथों उम्र भर खराब रही। हकीकत यह है, कि वह रंडीपन के लायक न थी। बैसवाड़े के एक ज़मींदार की लड़की थी। सूरत से शराफ़त जाहिर होती थी। हुस्न, खुदा दाद था, मगर इस हुस्नोजमाल पर खलत यह था, कि कोई मुझ पर आशिक हो। यूँ तो खुद ही प्यार करने के लायक थी। कौन ऐसा होगा, जो उस पर फरेफ़ता न हो जाता। अब्बल ही अब्बल प्यारे साहब को मुहब्बत थी। हजारों रुपये का सलूक किया। वाकई जान देते थे। खुरशीद ने भी उन्हें अच्छी तरह कसा। जब इतमीनान हो गया, कि सच्चा आशिक है, खुद जान देने लगीं। दिन-दिन भर खाना नहीं खातीं। अगर इनको किसी

दिन इत्तिफाक से देर हो गई, बैठी ज़ारे क़तार रो रही हैं। हम सबने सलाह दी, 'देवो खुरशीद, ऐमा न करो। मर्दुए बेमुरव्वत होते हैं। तुम्हारे उनके सिर्फ़ आशनाई है। आशनाई की बुनियाद क्या ? निकाह नहीं हुआ, व्याह नहीं हुआ। अगर ऐसा चाहोगी तो अपना बुरा चाहोगी, और पछताओगी।' आखिर हमारा ही कहा हुआ। प्यारे साहब ने जब देखा कि रंडी प्यार करती है, लगे नखरे करने। या तो आठों पहर बैठे रहते थे, या अब हैं कि वह दो-दो दिन नहीं आते। खुरशीद जान दिये देती हैं। रोती हैं, पीटती हैं, खाना नहीं खाती। अर्जीब हाल है। खानम को सूरत से नफ़रत हो गई, यहाँ तक कि आना जाना, खाना पीना, आदमियों की तनहाह सब मौक़ूफ़।

मैं नहीं समझ सकती, कि इस हुस्न के साथ इश्क़ उसके दिल में किमने भर दिया था। सच तो यह है, कि वह किसी मर्द आदमी की जोरू होती तो ख़ूब निवाह होता। उम्र भर, मर्द, पाँव धो-धो के पीता। बशर्ते कि क़दरदान होता। बिस्मिल्ला, खुरशीद के तलुबों की बराबरी नहीं कर सकती थीं। इस पर वह तमकनत, वह गुस्सा, वह नाज़, वह नखरे कि खुदा की पनाह। मौलवी साहब का हाल तो आप सुन ही चुके हैं, और आशनाओं से भी उसका तलूफ़ कुछ अच्छा न था। असल तो यह है, कि उनको अपनी माँ की दौलत पर घमंड था। बाक़ई दौलत भी बेइन्तहा थी। अपने आगे किसी की हस्ती ही न थी। खुरशीद की जात से खानम को बड़ी उम्मीदें थीं। बाक़ई अगर इसमें रंडीपन होता, तो लाखों ही पैदा करती। इस हुस्नोबूबी पर आवाज़ बिल्कुल न थी। नाचने में भी बिल्कुल फ़ूहड़ थीं। सिर्फ़ मूरत ही मूरत थी। अब्बल अब्बल, मुजर्गे बहुत आते थे। अखिर जब मलूम हुआ कि गाने नाचने में तमीज़ नहीं, लोगों ने बुलाना छोड़ दिया। जो था, वह सूरत का मुस्ताक़ होके आता था। अच्छे-अच्छे मरते थे। मगर जब आके देखा, मुँह थोथाये बैठी हैं। इन पर इश्क़ सवार था। हरएक से बेख़्शी, बेमुरीबली। यह हालत देख के लोगों ने भी आना छोड़ दिया। अब प्यारे साहब ही सिर्फ़ रह गये। इधर तमाशा देखिये, कि प्यारे साहब के वालिद पर शाही जुल्म हुआ। घर की ज़वती हो गई। ज़ामीर छीन ली गई। बेचारे ग़ोहताज हो गये। यह सब कुछ हुआ,

मगर खुरशीद के इश्क में कमी न हुई। अब यह ज़िद हुई कि मुझे घर में बिठा लो।

प्यारे साहब ने खानदान की इज्जत, या यूँ कहो कि बाप के डर से मंज़ूर न किया। खुरशीद की आस टूट गई।

खुरशीद बहुत ही नातसुर्वेकार औरत थी। सैकड़ों रुपया फुसला-फुसला के लोग खा गये। फ़ज़ीर-फ़ुकरा से आपको बड़ा भरोसा था। एक दिन एक साहब तशरीफ़ लाये। वह एक के दो करते थे। खुरशीद ने अपने कड़े और कंगन की जोड़ियाँ उतार दीं। शाह साहब ने एक कोरी हाँडी मँगवाई। उसमें स्याह तिल भरवाये। कड़े कंगन हाँडी में रख के चपनी ढाँप दी। शाल बाफ़ का एक पर्चा गले में बाँध, नाड़े से बाँध दिया। शाह साहब रवाना हो गये। चलते-चलते कह गये कि आज न खोलना, कल सुबह को खोलना। मुशिद के हुक्म से एक के दो हो जायेंगे। सुबह को हाँडी खोली गई, काले तिलों के सिवा कुछ न मिला।

एक जोगी ने काले ताग का फन मुँह से निकाल के दिखाया कि यह तुझे परसों आके डस लेगा। वी खुरशीद ने कानों से पत्ते बालियाँ निकाल के हवाले कीं। खुरशीद को कभी गुस्सा आता ही न था। ऐसी नेक दिल और नेक मिज़ाज औरतें, वहाँ बेठियों में कम होती हैं, रंड़ियों का तो ज़िक्र ही क्या? मगर हाँ, एक दिन गुस्सा आया। जिस दिन प्यारे साहब माँझे का जोड़ा पहन के आये। अठ्ठल तो चुपकी बैठी रही, थोड़ी देर के बाद गालों पर सुर्खी भलकी। रफ़ता-रफ़ता सुर्ख भभूका हो गई। इसके बाद उठी, माँझे के धोड़े के पुर्जे-पुर्जे कर डाले। अब रोना शुरू हुआ। दो दिन तक रोया की। तमाम दुनिया ने समझाया, कुछ न माना। आखिर बुझार आने लगा। दो महीने बीमार रही, लेने के देने पड़ गये। हकीमों ने दिक्क़ तजवीज़ की। लेकिन खुदा के फ़ज़ल से दो महीने के बाद, मिज़ाज खुद बख़ुद ठीक होगया। इसके बाद और लोगों से मुलाकात हुई। मगर किसी से दिल न लगा और न किसी का दिल इनसे। इसलिये कि बेपरवाही और बेमुरौबती हृद से ज्यादा बढ़ी हुई थी। बज़ाहिर मिलती थीं, मगर दिल न मिलता था।

ग्यारह

मावन का महीना है, तीसरे पहर का वक्त है। पानी बरस के खुल गया है। चौक के कोठों और बुलन्द दीवारों पर जगह-जगह धूप है। बादल के टुकड़े आसमान पर इधर-उधर आते जाते नज़र आते हैं। पच्छिम की तरफ रंग-रंग की लाली नज़र आती है। चौक में सफेद पोशों का मजमा ज्यादा होता जाता है। आज ज्यादातर मजमे की एक वजह यह भी थी, कि जुम्मा का दिन है। लोग ऐसा वाग के मेले को, क्रदम उठाए, जल्द-जल्द चले जाते हैं। खुरशीद, अमीर जान, बिस्मिल्ला और मैं, मेले जाने के लिये बन-ठन रहे हैं। धानी दोपट्टे, अभी रंगरेज़ रंग के दे गया है, बुने जाते हैं। बालों में कंधी हो रही है, चोटियाँ सूँथी जाती हैं, भारी ज़ेवर निकाले जाते हैं। खानम साहब, सामने चौके पर गाव तकिये से लगी बैठी हैं। बुआ हुसैनी अभी पेचवान लगा के पीछे हटी हैं। खानम साहब के सामने मीर साहब बैठे हैं। मेले जाने पर इस्तरार कर रहे हैं। वह कहती हैं, आज मेरी तबीयत सुस्त है। मैं नहीं जाने की। हम लोग दुआएँ माँग रहे हैं, कि खुदा करे न जाएँ, तो मेले की बहार है।

खुरशीद पर इस दिन ग़ज़ब का जोवन है। गोरी रंगत, मलमल के धानी दोपट्टे से फूटी निकलती है। ऊदी गरंट का पाजामा, बड़े-बड़े पायचों का, सँभाले नहीं सँभलता। फँसी-फँसी कुरती, क्रयामत ढा रही है। हाथ, गले में हल्का-हल्का ज़ेवर है। नाक में हीरे की कील, कान में सोने की अलियाँ, हाथ

में कड़े, गले में मोतियों का कंठा । सामने कमरे में आदम कद आईना लगा है । अपनी सूरत देख रही हैं । क्या कहूँ, क्या सूरन थी ? अगर मेरी सूरत बेसी होती, तो अपने अक्स की आप ही बलाएँ ले लेती । मगर इनको यह शम है, कि हाथ इस सूरत पर कोई देखने वाला नहीं । प्यारे साहब से बिगाड़ ही हो चुका है, चेहरा उदास-उदास है । हाथ, वह उदासी भी गजब कर रही है । अच्छी सूरत वालों का सब कुछ अच्छा मालूम होता है । इस वक्त, इस पूरी पैकर की सूरत देखने से दिल पिसा जाता है । और तो कोई मिसाल, अपने दिल की हालत की समझ में नहीं आती । यह मालूम होता था, कि किसी अच्छे शायर का कोई दुख भरा शेर मुना है और दिल उसके मजे लं रहा है ।

बिस्मिल्ला की सूरत ऐसी बुरी न थी । खिलता हुआ साँवला रंग, किताबी चेहरा, सुतवाँ नाक, बड़ी आँखें, स्याह पुतली, छरहरा बदन, बूटा सा कद, कार-चोबी तुलवाँ जोड़ा, काही क्रेप का दोपट्टा, बन्नत टकी हुई जर्द गरंट का पजामा, बेश क्रीमत जेवर, सिर से पाँव तक गहने में लदी हुई । इस पर तुराँ यह, कि फूलों का गहना । ऐन-मैन चौथी की दुल्हन मालूम होती थी । फिर इस पर बात बात में शोखी, शरारत । मेले में पहुँच कर किसी को मुँह चिढ़ा दिया, किसी से आँख लड़ाई । जब वह देखने लगा तो मुँह फेर लिया । हाँ, यह कहना भूल गई, कि बनाव सिंगार कर के मियानों में सवार हो कर मेले पहुँचे ।

मेले में वह भीड़ें थीं, कि अगर थाली फेंको तो सिर ही सिर जाये । जावजा खिलौने वालों, मिठाई वालों की दुकानें, खोंचे वाले, मेवा फरोश, हार वाले, तम्बोली, साकिनें, शरज कि जो कुछ मेलों में होता है, सब कुछ था । मुझे तो और किसी चीज से काम नहीं, लोगों के चेहरे देखने का हमेशा से शौक है, खासकर मेले तमाशों में । खुश-नाखुश, अमीर-गरीब, बेवकूफ-प्रकलमंद, आलिम-जाहिल, शरीफ-रजील, सखी-कंजूस, यह सब हाल चेहरे से खुल जाता है । एक साहब हैं, कि अपने तन्जेब के अँगरेखे और ऊदी सदरी, नुक्कादार टोपी, छुस्त छुटने और मखमली चड़वें जूते पर इतराते हुए चले जाते हैं । कोई

साहब हैं, सन्दनी रँगा हुआ दोपट्टा, सिर में आड़ा बाँधे हुए, रंडियों को धूरते फिरते हैं। एक साहब आये तो हैं मेला देखने, मगर बहुत ही रंजीदा, कुछ चुपके चुपके बुड़बुड़ाते भी जाते हैं। मालूम होता है, बीवी से लड़ के आए हैं। जिन बानों के जवाब वर वक्ता न सुंके थे, उन्हें अब याद कर रहे हैं। कोई साहब अपने छोटे से लड़के की उँगली पकड़े, उससे बातें करते चले आते हैं। हर बात में अम्माँ का नाम आता है। अम्माँ खाना पकाती होंगी। अम्माँ का जी साँदा है। अम्माँ सो रही होंगी। अम्माँ जागती होंगी। बहुत शोखी न किया करो, नहीं तो अम्माँ हकीम के यहाँ चली जावेंगी। एक साहब सात आठ बरस की लड़की को सुल्ल कपड़े पहना के लाये हैं। कंधे पर चढ़ाए हुए हैं। नाक में नन्ही सी नथती है। अँची चोटी गुँधी हुई, लाल शाल बाफ़ का मूवाफ़ पड़ा है। हाथों में चाँदी की खूड़ियाँ हैं। मालूम के दोनों हाथ जोर से पकड़े हैं। कलाइयाँ दुबी जाती हैं। कोई चूड़ियाँ न उतार ले। कहिये, फिर पहना के लाना ही क्या जरूर था।

लीजिये दूसरे साहब और उनके एक ज़िगरी यार भी साथ हैं। फ़रमाइशी गालियाँ चल रही हैं, 'अम्माँ पान तो खिलवाओ।' खट से एक पैसा तम्बोली की दुकान पर फँका। मालूम हुआ कि आप बड़े अमीर हैं। पैसा दो पैसा आपके आगे क्या चीज़ है। फ़ौरन ही हुक्का वाले को भी आवाज़ दे दी, भई साक्री इधर आना हुक्का सुलगा हुआ है ?' एक और यार आ मौजूद हुए। मामूली गाली गलौच के बाद मुलाक़ात, सलाम वन्दगी, मिज़ाजपुर्सी जैसी बे-तकलुफ़ दोस्ती में हुआ करती है। 'अवे, पान तो खिलवा ! लुत्फ़ तो यह, आप मुसलमान यार हिन्दू। जब तम्बोली ने पान दिये, भप से बड़ के ले लिये। 'अवे यार, भूल गये।' अब यह त्रिसियाने हुए। एक पैसा निकाला। 'लो भई, हमें भी दो पान देना, इलायची भी छोड़ देना। चूना ज्यादा न हो।' (दोस्त से) 'अच्छा, लो, चिलम तो पिलवाओगे।'।

चिलम हुक्का से उतरते ही थे, कि साक्री ने धूर के देखा। फ़ौरन हाथ से हुक्का और जेब से पैसा निकाल के देना पड़ा।

गौहर मिर्ज़ा ने मोती भील के किनारे फ़र्श बिछा दिया था। वहीं जा के

ठहरे। इधर-उधर दरस्तों में फिरते रहे। सरे शाम से, दो घड़ी रात गये तक मेला की सैर की। फिर घर चलने की ठहरी। अपने अपने मियानों में सवार हुए। अब जो देखते हैं, तो खुरशीद जान का मियान खाली है। उनका कहीं पता न मिला। आखिर, मायूस हो के घर वापस आये। खानम ने सुनते ही सिर पीट लिया। तमाम घर को सदमा हुआ। मैं खुद, रात भर रोया की। प्यारे साहब के मकान पर आदमी गया। वह बेचारे उसी वक्त दौड़े आये। हजारों कस्में खाई, 'मुझे बिल्कुल नहीं मालूम, मैं मेले में भी नहीं गया। बेगम की तबीयत अलील है, जाता तो क्योंकर जाता?' प्यारे साहब पर यूँ बेजा सा गुमान था। उनके कस्मे खाने के बाद किसी को छुवहा न रहा। वजह यह थी, कि वह शादी के बाद वीवी के ऐसे पावन्द हो गये थे, कि चौक का आना जाना, उन्होंने बिल्कुल मौकूफ कर दिया था। रात को घर से निकलते ही न थे। खुरशीद के गुम होने की खबर सुन के, कुछ तो अगली मुहब्बत के ख्याल से और कुछ खानम की मुरब्बत से, नहीं मालूम, किस तरह से चले आये थे।

खुरशीद के गुम होने के डेढ़ महीने बाद, एक साहब, जिनकी वजा शहर के बाँकों की ऐसी थी, साँवला रंग, छरहरा बदन, एक दुखाला कमर में लपेटे और एक सिर से बाँधे, मेरे कमरे में दराना चले आये और आते के साथ ही सामने कालीन के किनारे बैठ गये। इससे मुझे मालूम हुआ कि तबीयत में किसी कदर कमीनापन है, या अभी अनीले हैं। रंड़ियों के यहाँ जाने का कम इत्तिफाक हुआ है। इस वक्त मैं अकेली बैठी थी। मैंने बुआ हुसैनी को आवाज दी। वह कमरे में आई। उनके आते ही वह साहब उठ खड़े हुए और किसी कदर बेतकलुफ़ी के साथ बुआ हुसैनी का हाथ पकड़ लिया। अलहदा ले जाके कुछ बातें कीं, जिनमें कुछ मैंने सुनी और कुछ नहीं सुनी। इसके बाद, बुआ हुसैनी खानम साहब के पास गई, वहाँ से आके फिर बातें हुईं। आखिर कलाम यह था, कि आपको एक महीना की तनख्वाह पेशगी देनी होगी। इन साहब ने, कमर से रुपयों की थैली निकाली। बुआ हुसैनी ने गोद फैलाई। उन्होंने छन से रुपये फैंक दिये।

बुआ हुसैनी : 'यह कितने हैं?'

वह साहब : 'नहीं मालूम । गिन लीजिये ।'

बुआ हुसैनी : 'ए, मुझे तो निगोड़ा गिनना भी नहीं आता ।'

वह साहब : 'मैं जानता हूँ, पच्चत्तर रुपये होंगे । शायद, एक दो कम हों या ज्यादा ।'

बुआ हुसैनी : 'मियाँ पच्चत्तर किसे कहते हैं ?'

वह साहब : 'तीन बीसी और पन्द्रह । पच्चीस कम सौ ।'

बुआ हुसैनी : 'पच्चीस कम सौ ! तो यह कितने दिन की तनखाह हुई ?'

वह साहब : 'पन्द्रह दिन की । कल वह भी पन्द्रह दिन की दे दूँगा । पूरे डेढ़ सौ नक़द आपको पहुँच जायेंगे ।'

यह नक़द सुन के मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ । अब तो बिल्कुल ही यकीन हो गया, कि यह ऐसे ही बँसे होंगे । मगर मजबूर । रंडी का पेशा । दूसरे, पराये बस में । करती तो क्या करती ?

बुआ हुसैनी, रुपये ले के खानम के पास गई । खानम, उस वक्त नहीं मालूम किस नेकी के दम में थी, कि फ़ौरन मंजूर कर लिया । बल्कि ताज्जुब हुआ इसलिये, कि बड़े बड़े रईसों से रुपये के बारे में एक दम के लिये मुरव्वत नहीं करती थीं और यहाँ इम वक्त एक दिन का ज़ादा मान लिया ।

इस मुआमले के तय होने के बाद, वह साहब मेरे ही कमरे में रात भर रहे । कोई पहर रात बाकी होगी मुझे ऐसा मालूम हुआ, कि जैसे किसी ने कमरे के नीचे आ के दस्तक दी । वह साहब फ़ौरन उठ बैठे और कहा 'तो अब मैं जाता हूँ । कल शब को फिर आऊँगा ।' चलते वक्त पाँच अशरफ़ियाँ और तीन अँगूठियाँ, एक सोने की याक़ूत का नगीना, एक फ़ीरोज़े की, एक हीरे की, मुझको दीं और कहा, यह तुम अपने पास रखना । खानम को न देना ।' मैंने खुशी खुशी पहनीं और अपनी उँगलियों को देखने लगी । मुझे बहुत ही खूबसूरत मालूम होती थीं । फिर सन्दूकचा खोला । अशरफ़ियों और अँगूठियों को चोरखाना में रख दिया ।

दूसरे दिन शब को फिर वही साहब आये । उस वक्त, मैं तालीम ले रही थी । वह एक किनारे आ के बैठ गये । गाना हुआ किया । पाँच रुपये साजिन्दों

को दिये । उस्ताद जी और सारंगिये खुशामद की बानें करने लगे । उस्ताद जी ने, कमर में जो दुशाला बाँधा था, उसके ऐंठने की फ़िक्र की । फिर मुँह फाड़ के माँगा, मगर बार खाली गया । उन्होंने न दिया ।

वह साहब : 'उस्ताद जी ! रुपया पैसा और जिस चीज़ को कहिये, मौजूद है । यह दुशाला मैं नहीं दे सकता । एक दोस्त की निशानी है ।'

उस्ताद जी अपना सा मुँह ले के चुप हो रहे ।

इसके बाद तालीम ख़त्म हुई । । बुआ हुसैनी को बाकी पच्चत्तर गिन दिये । पाँच रुपया बुआ हुसैनी को अपनी तरफ़ में दिये, वह ख़ुश हो गई । जब वह और मैं, सिर्फ़ दो आदमी कमरे में रह गये, मैंने पूछा, 'आपने मुझको कहाँ देखा था, जो इनायत की ।'

वह : 'दो महीने हुए, ऐश बाग़ के मेले में ।'

मैं : 'और फिर आये दो महीने के बाद ।'

वह : 'मैं बाहर चला गया था, और अब फिर जाने वाला हूँ ।'

अब मेने रंडीपन की लगावट शुरू की ।

मैं : 'तो हमें छोड़ के चले जाओगे ?'

वह : 'नहीं, फिर बहुत जल्द आ जाऊँगा ।'

मैं : 'और तुम्हारा मकान कहाँ है ?'

वह : 'मकान तो फ़र्हखाबाद में है, मगर यहाँ बहुत काम रहता है, बल्कि रहता यहीं हूँ । कुछ दिनों के लिए बाहर चला जाता हूँ, फिर चला आता हूँ ।'

मैं : 'और यह दुशाला किसकी निशानी है ?'

वह : 'किसी की नहीं ।'

मैं : 'वाह, मैं समझ गई, यह तुम्हारी आशाना की निशानी है ।'

वह : 'नहीं, तुम्हारे सिर की क्रसम, मेरी कोई आशाना नहीं है । बस तुम्हीं हो, जो कुछ हो ।'

मैं : 'तो फिर मुझे दे दो ।'

वह : 'मैं नहीं दे सकता ।'

यह बात मुझे बहुत नागवार हुई । इतने में उन्होंने बड़े बड़े मोतियों की

माला, जिसमें जमुरद की हड्डें लगी हुई थी, और एक जोड़ी हीरे के कड़े की, और दो अँगूठियाँ सोने की, मेरे सामने रख दीं। यह सब तो मैंने खुशी-खुशी उठा लिया। सन्दूकचा खोल के वन्द करने लगी। मगर मुझे ताज्जुब हुआ कि यह हज़ारों की रकम तो यूँ मुझे दिये देते हैं। मगर यह दुशाला ज्यादा से ज्यादा पाँच सौ का होगा, इससे क्यों इन्कार किया। वाकई मुझको यह दुशाला पसन्द न था, जो मैं इसरार करती, अपने काम से काम था।

इन साहब का नाम फ़ैजअली था। पहर, डेढ़ पहर रात गये, आते थे, और कभी आधी रात को, कभी पिछले पहर से, उठ के जाते थे। महीना डेढ़ महीना में कई मर्तबा, दस्तक या सीटी की आवाज, मैंने सुना की और फ़ौरन ही फ़ैजअली उठ कर खाना हो गये। फ़ैजअली से रस्म हुए, कोई डेढ़ महीना गुज़रा होगा कि मेरा सन्दूकचा सादे और जड़ाऊ गहने से भर गया। अशक़ियों और खपयों का शुमार नहीं। अब मेरे पास खानम और बुआ हुसैनी से छिपा हुआ, दस बारह हज़ार का माल हो गया था।

फ़ैजअली से अगर्चे मुझको मुहब्बत न थी, तो नफ़रत भी न थी। और होने की क्या वजह? अब्बल तो वह कुछ बदसूरत भी न थे, दूसरे लेना-देना अजीब चीज़ है। मैं सच कहती हूँ, जब तक वह न आते थे, मेरी आँखें दरवाज़े की तरफ़ लगी रहती थीं। गौहर मिर्जा की आमदरफ़्त, इन दिनों सिर्फ़ दिन की रह गई थी। शब के आने वालों में से भी अक्सर लोग समझ गये थे कि मैं किसी की पाबन्द हो गई हूँ, इसलिये सवेरे से खिसक जाते थे, और जो साहब जम के बैठते थे, उनको मैं किसी हीले से टाल देती थी। खुरशीद की तलाश बहुत कुछ हुई, मगर सुराग न मिला। इस दौरान में फ़ैजअली को मुझ से बहुत मुहब्बत थी, जिसका इज़हार तरह-तरह से होता था। अगर मेरा दिल शुरू से गौहर मिर्जा की तरफ़ मायल न हो गया होता, तो मैं ज़रूर फ़ैजअली से मुहब्बत करती और उसी को दिल देती। इस पर भी मैंने उनकी दिलजोई और खातिरदारी में किसी तरह कमी नहीं की। मैंने फ़ैजअली को फ़रेव दे रखा था कि मुझे तुम से मुहब्बत है और वह बेचारा मेरे जाल में फँसा हुआ था। जो कुछ खुफ़िया उसने मुझको दिया, उसकी किसी को कानों कान खबर

न थी। खानम और बुआ हुसैनी के कहने से मुझे फरमाइशें भी करनी पड़ती थीं। इन को पूरा करना भी वह अपना फर्ज समझता था। उसको रुपये पैसे की कोई परवाह न थी। ऐसा खुला दिल आदमी, न मैंने रईसों में देखा, न शाहजादों में।

रुसवा : 'जी हाँ, क्यों नहीं ! माले मुफ्त दिले बेरहम। भला उसके बराबर किसका दिल हो सकता था ?'

उमराव जान : 'माले मुफ्त क्यों ?'

रुसवा : 'तहीं तो अपनी अम्मा जान का जेवर आपको उतार के ला दिया करता था ?'

उमराव जान : 'हमें क्या मालूम था ?'

बारह

रात के आने बालों में एक पन्नामल चौधरी थे। घंटा दो घंटा बैठ के चले जाते थे। उनकी चार आदमियों में बैठने का मज्जा था। अगर उनकी खातिर-दारी होती रहे तो और किसी के आने जाने से उन्हें कुछ शरज न थी। महीने में दो सौ रुपये का नक़द सलूक और फ़रमाइशों का ज़िक्र नहीं। फ़ौजअली की मुलाक़ात के ज़माने में उनकी आमदोरफ़्त भी कम हो गई थी। या तो हर रोज़ आया करते थे या दूसरे तीसरे दिन आने लगे। फिर एक मर्तबा पन्द्रह दिन का शोता लगाया। अब जो आये तो उदास-उदास। मामूली बातों का जवाब देते हैं, और खामीश हो जाते हैं।

पन्नामल : 'क्या तुम ने सुना न होगा ?'

मैं : 'क्या ?'

पन्नामल : 'हम तो तवाह हो गये। घर में चोरी हो गई। पुश्तों का जोड़ा हुआ धन उठ गया।'

मैं (चौंककर) : 'हाय चोरी हो गई ? कितने का माल गया ?'

पन्नामल : 'सब उठ गया, रहा क्या ? दो लाख का जवाहर उठ गया।'

मैं दिल में तो हँसी। हसी इस बात पर, कि उनके बाप छन्नामल तो करोड़पति मशहूर थे। इसमें कोई शक नहीं कि दो लाख बहुत बड़ी रक़म है, मगर इनके नज़दीक क्या असल है। बज़ाहिर मुँह बना के बहुत अफ़सोस किया।

पन्नामल : 'जी हाँ, अजकल शहर में चोरियाँ बहुत होती हैं। नवाब मलका आलम के यहाँ चोरी हुई, लाला हरपरशद के यहाँ चोरी हुई, अन्धेर है। सुना है, बाहर से चोर आये हुए हैं। मिर्जा अली बेग बेचारे हैरान हैं। शहर के चोर सब तलब हो गये थे, किसी से कुछ पता नहीं मिला। वह लोग कानों पर हाथ रखते हैं कि यह हमारा काम नहीं है।'।

पन्नामल के आने के दूसरे दिन, मैं अपने कमरे में बैठी हूँ कि चौक में एक शोर हुआ। मैं भी चिक के पास जा खड़ी हुई। अब जो देखती हूँ तो भीड़ चली आ रही है।

एक : 'आखिर गिरफ्तार हुए ना।'।

दूसरा : 'वाह मिर्जा क्या कहना ? कोतवाल हो तो ऐसा हो।'।

तीसरा : 'क्यों भई, कुछ माल का भी पता लगा ?'

चौथा : 'बहुत कुछ बरामद हुआ, मगर अभी बहुत सा बाक़ी है।'।

पाँचवाँ : 'मियाँ फ़ैजू भी गिरफ्तार हुए ?'

छठा : 'वह क्या आते हैं।'।

मैंने अपनी आँखों से देखा कि मियाँ फ़ैजू बँधे चले आते हैं। सिपाहियों का गारद साथ है। गिर्द लोगों का भी दै। मियाँ फ़ैजू मुँह पर दोपट्टा डाले हुए हैं, उनकी सूरत दिखाई नहीं देती। दोपहर से पहले का वाक़या है।

हसब सामूल, फ़ैज़अली कोई पहर रात गये तशरीफ़ लाये ! कमरे में, मैं हूँ और वह हैं। आते ही कहा, 'आज हम बाहर जाने हैं, परसों आयेंगे। देखो उमराव जान, जो कुछ हमने तुमको दिया है, उसको किसी पर जाहिर न करना। बुआ हुसैनी को न देना, न खानम को दिखाना। तुम्हारे काम आयेंगा। हम परसों ज़रूर आयेंगे। अच्छा, यह कहो कि हमारे साथ थोड़े दिनों के लिये बाहर चल सकती हो ?'

मैं : 'तुम जानते हो कि मैं अपने बस में नहीं। खानम साहब की अस्तिथार है, तुम उन से कहो। अगर वह राज़ी हों, तो मुझे क्या उज्र है।'।

फ़ैज़अली : 'सच है, कि तुम लोग बड़े बेवफ़ा होते हो। हम तो तुम पर जान देते हैं और तुम ऐसा खुशक जवाब देती हो। अच्छा बुआ हुसैनी को

बुलाओ ।'

मैंने बुआ हुसैनी को आवाज दी, वह आई ।

फ़ैज़अली (मेरी तरफ़ इशारा करके) : 'भला यह कुछ दिनों के लिये बाहर भी जा सकती हैं ?'

हुसैनी : 'कहाँ ?'

फ़ैज़अली : 'फ़र्रुखाबाद । मैं कोई ऐसा वैसा आदमी नहीं हूँ । मेरी वहाँ रियासत है । फ़िलहाल, मैं दो महीने के लिये जाता हूँ । अगर खानम साहब मंजूर करें, तो दो महीने की तनख्वाह पेशगी, बल्कि इसके अलावा जो कुछ कहें, मैं देने को तैयार हूँ ।'

बुआ हुसैनी : 'मुझे तो नहीं यक़ीन कि खानम मंजूर करेंगी ।'

फ़ैज़अली : 'अच्छा, तुम पूछो तो।'

बुआ हुसैनी खानम के पास गई ।

मेरे नज़दीक बुआ हुसैनी को खानम के पास भेजना बेकार था । इसलिये कि मुझे यक़ीन था कि वह हरगिज़ मन्जूर न करेंगी ।'

फ़ैज़अली ने मेरे साथ वह सलूक किया था, कि अगर मैं अपने अस्त्रियार में होती, तो मुझे उनके साथ जाने में कुछ भी उज्र न होता । मैं यह ख्याल करती थी, कि जब इस शरूस ने घर बैठे इतना सलूक किया, तो वतन जाकर निहाल कर देगा । मैं इस ख्याल में थी, कि इतने में बुआ हुसैनी ने आकर साफ़ जवाब दे दिया, कि इनका बाहूज़ जाना किसी तरह नहीं हो सकता ।

फ़ैज़अली : 'दुगनी तनख्वाह पर सही ।'

बुआ हुसैनी : 'चौगुनी तनख्वाह पर भी नहीं मुमकिन । हम लोग बाहर नहीं जाने देते ।'

फ़ैज़अली : 'ख़ैर । जाने दो ।'

बुआ हुसैनी चली गई । मैंने देखा कि फ़ैज़अली की आँखों से टपटप आँसू गिरने लगे । यह हाल देख के मुझे बहुत ही तरस मालूम हुआ ।

माशूकों की बेवफ़ादियों का ज़िक्र, क्रिस्ता कहानियों में जब सुनती थी, तो मुझे अफ़सोस होता था, बुरा कहती थी । मुझे यह ख्याल आया कि अगर

इसका साथ न दिया, तो मेरी बेवफ़ाई और एहसान फ़रामोशी में कोई शक़ नहीं। मैंने दिल में ठान लिया कि इस शख्स का ज़रूर साथ दूँगी।

मैं : 'अच्छा तो मैं चलूँगी।'।

फ़ैज़अली : 'चलोगी ?'

मैं : 'हाँ, कोई जाने दे या न जाने दे, मैं ज़रूर चलूँगी।'।

फ़ैज़अली : 'क्योंकर ?'

मैं : 'छिपकर।'।

फ़ैज़अली : 'अच्छा; तो परसों रात को हम आयेंगे। पहर रात रहे तुम्हें यहाँ से निकाल ले चलेंगे। देखो, दशा न देना, वरना अच्छा न होगा।'।

मैं : 'मैं अपनी खुशी से चलने को कहती हूँ। तुमसे वादा कर चुकी हूँ। मेरे वादे को भी देखना।'।

फ़ैज़अली : बहुत अच्छा देखा जायेगा।'।

उम रात को फ़ैज़ अली, कोई डेढ़ पहर रात रहे, मेरे पास से उठ के चले गये। उनके जाने के बाद, मैं दिल में शौर करने लगी। वादा तो कर लिया, मगर देखिये क्या होता है, जाऊँ या न जाऊँ ?

जब फ़ैज़ अली की मुहब्बत और अपने वादे का ख़्याल आता था, तो दिल कहता था कि जाना चाहिये मगर जैसे कोई मना करता था, कि न जाओ, खुदा जाने क्या हो।

इसी उधेड़ बुन में सुबह हो गई; कोई बात दय न हुई। दिन भर यही बातें दिल में रहीं, रात को इत्तिफ़ाक़ से कोई मेरे पास नहीं आया। कमरे में अकेली इसी फ़िक्र में रही। आखिर नींद आ गई। सुबह को ज़रा दिन चढ़े सोया की। ग़ौहर मिर्ज़ा ने कच्ची नींद में आकर भँभोड़ के जगा दिया। मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। दिन भर नशे का सा ख़ुमार रहा। नहीं मालूम, किस बात पर बुआ हुसैनी से उलझन हो गई। हाँ, ख़ूब याद आया। बात यह थी कि कहीं बाहर से मुजरा आया था। बुआ हुसैनी ने मुझसे कहा, 'जाओगी ?' उस वक़्त मेरे सिर में दर्द हो रहा था। मैंने साफ़ इन्कार कर दिया। बुआ हुसैनी ने कहा, 'वाह, जब तब इन्कार कर देती हो। आखिर इस

पेशे में होकर करोगी क्या ?' मैंने कहा, 'मैं तो न जाऊँगी।' हुसैनी ने कहा, 'नहीं, जाना होगा। खास तुम्हारी फ़रमाइश है और खानम साहब ने वादा कर लिया है। रुपया भी ले लिया है।' मैंने कहा, 'बुआ ! मैं नहीं जाने की, रुपया फेर दो।'।

बुआ हुसैनी : 'भला तुम जानती हो, खानम साहब रुपया लेके कभी फेरती हैं ?'

मैं : 'चाहे किसी की तबीयत अच्छी हो, चाहे न अच्छी हो। अगर खानम साहब रुपया न फेरेंगी, तो मैं अपने पास से फेर दूँगी।'।

बुआ हुसैनी : 'आ हा ! अब तुम बड़ी रुपये वाली हो गई हो, लाओ फेर दो।'।

मैं : 'कितना रुपया है ?'

बुआ हुसैनी : 'सौ रुपया है।'।

मैं : 'सौ रुपया लोगी या किसी की जान ?'

बुआ हुसैनी को भी उस दिन खुदा जाने कहाँ की ज़िद चढ़ गई थी।

बुआ हुसैनी : 'बड़ी खरी हो तो दे दो।'।

मैं : 'शाम को दे दूँगी।'।

बुआ हुसैनी : 'वहाँ बाहर के आदमी बैठे हुए हैं, वह शाम तक के लिये क्यों मानेंगे ?'

बुआ हुसैनी दिल में यह समझे हुए थीं, कि इसके पास रुपया कहाँ से आया। अगर इस वक्त इस हीले से तंग की जायेगी तो खामख्वाह मुजरे पर राजी हो जायेगी। मेरे सन्दूकचे में, उस वक्त कुछ न होंगे, तो हजार डेढ़ हजार की अशरफियाँ थीं। जेवर का ज़िक्र नहीं, मगर इस वक्त बुआ हुसैनी के सामने सन्दूकचा खोलना ठीक नहीं था।

मैं : 'जाओ घण्टा भर में ले जाना।'।

बुआ हुसैनी : 'घण्टा भर में क्या फ़रिश्ते दे जायेंगे ?'

मैं : 'हाँ, दे जायेंगे। जाओ भई, इस वक्त मुझे दिक्कत न करो, मेरी तबीयत अच्छी नहीं है।'।

बुआ हुसैनी : 'आखिर कुछ कहो तो क्या हुआ ?'

मैं : 'मुझे खुशार की सी हारत है और मिर में शिद्दत से दर्द हो रहा है।'

बुआ हुसैनी (माथे पर हाथ रख के देखा) : 'हाँ सच तो है। पिंडा फीका है। मगर मुजरे को तो कहीं परसों जाना होगा। जब तक खुदा न करे क्या तबीयत का यही हाल रहेगा ? रुपये क्यों फेरे जाय ?'

मैं इस बात का कुछ जवाब न देने पाई थी, कि बुआ हुसैनी जल्दी से उठ के चल दी। बुआ हुसैनी की इस हमाहमी से मुझे बहुत ही गुस्सा मालूम हुआ। उसी वक्त दिल में बढ़ी आ गई। दिल ने कहा, बाह जी ! जब इन लोगों को, हमारे दुख, बीमारी का ख्याल नहीं, अपने मतलब से मतलब है, तो इनके साथ रहना बेकार है।

रुसवा : 'कभी पहले भी यह ख्याल आपके दिल में आया था ?'

उमराव जान : 'कभी नहीं। मगर आप यह क्यों पूछते हैं ?'

रुसवा : 'इसलिये कि फ्रैंज अली ने जो वह सहारा दिया था, इसी से आपके दिल में यह ख्याल पैदा हुआ।'

उमराव जान : 'यह तो खुली हुई बात है।'

रुसवा : 'खुली हुई बात तो है, मगर इसमें एक बारीकी भी है।'

उमराव जान : 'वह बारीकी क्या है ? खुदा के लिये जल्दी कहिये।'

रुसवा : 'फ्रैंज अली के साथ निकल जाना, वादा करने से पहले ही आपके दिल में ठन गया था। अब दिल बहाने ढूँढ़ रहा था कि क्योंकर निकल चले।'

उमराव जान : 'नहीं, यह बात न थी। मैं दो दिली हो रही थी, कि जाऊँ या न जाऊँ ? गौहर मिर्जा के बेवक्त छेड़ने और बुआ हुसैनी की जबरदस्ती से मैंने जाने का इरादा कर लिया था। बल्कि उस वक्त तक कुछ यूँ ही सा इरादा था। जब तक रात को फ्रैंज अली आये थे, उनकी सूरत और तैयारी देख के पक्का इरादा हो गया था।

रुसवा : 'जी नहीं, पहले ही से इरादा पक्का हो चुका था। गौहर मिर्जा

का छेड़ना और बुझा हुसैनी की जिद आपको बुरी मालूम हुई; वरना यह मामूली बातें थीं। ऐसा तो अबसर हुआ ही करता होगा।'

उमराव जान : 'मैंने माना कि ऐसा होगा। अच्छा, फिर वह मना करने वाला कौन था। मैं सब कहती हूँ कि चलते-चलते मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई कान में कह रहा है, 'उमराव, न जा। कहा मान।' जिस वक्त दो तीन जीने उतर चुकी हूँ, उस वक्त तो ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई हाथ पकड़ के खींचे लेता है कि न जा। मगर मैंने न माना।'

रसवा : 'यह रोकने वाला बड़ा ज़बरदस्त था। इसी का हुक्म न मानने की तो आपने सज़ा भुगती।'

उमराव जान : 'अच्छा, मैं सभझी, यह वह चीज़ है जो नेक कामों की हिदायत करती है और बुरे कामों से रोकती है।'

रसवा : 'जी नहीं, यह वह नहीं थी। खानम के मकान पर रहना कौन सा अच्छा काम था। आपकी बातों से मालूम हो चुका है, कि आप हमेशा से बदकारी को बुरा समझती रही हैं। अगर्चे आपकी हालत ने, आपको इसके करने पर मजबूर किया हो। फिर खानम के मकान पर रहने से एक शख्स का साथ दे के उसका पाबन्द हो जाना बेहतर था।'

'बात यह थी, कि फ़ैज़अली के हुस्ने सलूक ने, आपको उसके साथ निकल चलने की तरजीब दी थी। कयाफ़ा शनासी के शौक़ और उसमें किसी क़दर मलका हो जाने से आप अच्छी खासी मरदुम शनास हो गई थीं।'

'ऐश बाग़ के मेले में लोगों के चेहरे देखने का हाल, मैंने बड़े शौक़ से सुना था। फ़ैज़ अली के करतूत आप पर जाहिर न थे। मगर उसकी शक्ल व रफ़्तार-गुफ़्तार से आपके दिल को आगाही हो गई थी, कि उसके साथ जाने में कुछ न कुछ ख़तरा ज़रूर है। मगर उसकी फ़रेब की बातों और और रुपये के लालच ने आपकी आँखों पर पर्दे डाल दिये थे। अफ़सोस, अगर आप मरदुम शनासी के उसूल से वाकिफ़ होतीं, तो उसके जाल में न आतीं।'

उमराव जान : 'मैं पढ़ूँगी, किसी किताब का नाम लीजिये।'

खानम का मकान, चौक में बहून ही महफूज जगह है। पच्छिम की तरफ बाजार है। उत्तर, दक्खिन, ऊँची ऊँची रंडियों के कमरे हैं। एक तरफ बीबा जान का मकान है, दूसरी तरफ हुसैन बाँदी रहती हैं। पिछवाड़े में मीर हुसैन अली साहब का दीवान खाना है। गरब कि किसी जानब से चोर का लगाव नहीं है। इस पर भी तीन पासी नौकर थे, जो रान भर कोठों पर फिरते थे। जब से फ़ैजअली की ग्रामदोरत शुरू हुई, मक्का पासी खास मेरे कमरे के दरवाजे पर रहता था। क्योंकि फ़ैजअली, रात गये आया करते थे और पहर रात से चले जाते थे। दरवाजे बंद करने और ताला लगाने के लिए मुकरर किया गया था।

बादे के मुताबिक़ फ़ैजअली आये। थोड़ी देर तक चुपके चुपके चल निकलने के मशवरे हुआ किये। इतने में मक्का ने अँगड़ाई ली। मालूम हुआ कि जग रहा है। फ़ैजअली ने उसे कमरे में बुलाया, 'एक रूपया इनाम लो। तुम को हमने कुछ नहीं दिया था, दरवाजा उड़का देना, हम जाग रहे हैं। कोई डर नहीं।'।

मक्का सलाम करके कमरे के बाहर निकला। फ़ैज अली ने कहा, 'लो अब चलो।' मैं उठी, दो जोड़े कपड़े दिन ही से गठरी में बाँध रखे थे। ज़ेवर का सन्दूकचा मैंने पहले ही से खिसका दिया था। गठरी वगल में दवाई, अकबरी दरवाजे की तरफ़ का रास्ता लिया। नखास में वैलगाड़ी पहले ही से खड़ी की गई थी। हम दोनों सवार हुए और चल निकले। हिडोला के नाका से थोड़ी दूर जा के फ़ैजअली का साईस घोड़ा लिए हुए मिला। वह भी बहल के साथ हो लिया। सुबह होते होते मोहन लाल गंज पहुँचे। यहाँ सराय में दोपहर तक क़याम हुआ। भटियारी से खाना पकवा के खाया।

बाल अरहर की बे-नमक फीकी,

मुतलिक़न जिसमें धू न थी घी की।

तीसरे दिन रायबरेली में दाखिल हुए। यहाँ सफ़र के मुतासिब कपड़ा खरीदा। मेरे दो जोड़े वनवाये। लखनऊ से जो कपड़े पहन के आई थी, गठरी में बाँधे।

राय वरेली से, उस गाड़ी को, जो लखनऊ से आई थी, रखसत किया। दूसरी गाड़ी किराया पर की। लालगंज की तरफ रवाना हुए। यह कस्बा, राय वरेली से कोई नौ दस कोस के फासले पर है। शामो-शाम पहुँच गए। रात भर मराय में रहे। फ़ैज़अली ज़रूरी सौदे मुल्क को बाज़ार गए। जिस कोठरी में हम थे, उस के पास वाली कोठरी में एक देहाती रंडी उतरी हुई थी, नसीबन नाम था। गहने पाते से दुरुस्त थी। कपड़े भी अच्छे थे। थी तो देहाती, मगर ज़वान बहुत साफ़ थी। लवो-लहजा कस्वानियों का ऐसा था। मेरे उसके, देर तक बातें हुआ कीं।

नसीबन : 'आप कहाँ मे आई हैं ?'

मैं : 'फ़ैज़ाबाद से।'

नसीबन : फ़ैज़ाबाद में तो मेरी बहन प्यारन रहती है। आप ज़रूर जानती होंगी।'

मैं (आख़िर पहचान गई ना कि मैं भी रंडी हूँ) : 'मैं क्या जानूँ ?'

नसीबन : 'फ़ैज़ाबाद में कौन ऐसी पतुरिया है, जो हमको नहीं जानती।'

मैं : 'बहुत दिनों से उनके घर बैठ गई हूँ। यह लखनऊ में रहते हैं। इसी लिये मैं भी अक्सर वहीं रहती हूँ।'

नसीबन : 'आख़िर पैदाइश तो तुम्हारी फ़ैज़ाबाद की है।'

मैं (यह तो बिल्कुल सच कहती है। अब क्या जवाब दूँ) : 'हाँ पैदा तो वहाँ हुई, मगर बचपने से बाहर रही।'

नसीबन : 'तो फ़ैज़ाबाद में किसी को नहीं जानती ?'

मैं : 'किसी को नहीं।'

नसीबन : 'यहाँ क्योंकर आना हुआ ?'

मैं : 'इनके साथ हूँ।'

नसीबन : 'और जाओगी कहाँ ?'

मैं : 'उत्ताव।'

नसीबन : 'लखनऊ होती हुई आई हो ?'

मैं : 'हाँ।'

नसीबन : 'फिर सीधा रास्ता छोड़ के यहाँ बीहड़ में कहाँ आई हो ?' नरपतगंज हो के उन्नाव चली गई होतीं ।'

मैं : 'रायबरेली में इनको कुछ काम था ।'

नसीबन : 'मैंने इसलिए कहा, कि इधर का रास्ता बहुत खराब है । डाकुओं के मारे मुसाफिरों की आमदो-रफ्त बन्द है । पनिया की बीहड़ में सैकड़ों को लूट लिया । उन्नाव का रास्ता उधर ही से हो के है । तुम तीन आदमी हो, जिसमें दो मर्द, एक औरत जात । तुम्हारे हाथ गले में गहना भी है । भला तुम्हारी क्या हकीकत है । यहाँ तो बारानें लुट जाती है ।'

मैं : 'जो भी तक्रादीर में होगा ।'

नसीबन : 'बड़ी दिल की कड़ी हो ।'

मैं : 'फिर क्या करूँ ।'

इसके बाद इधर उधर की बातें हुआ कीं । जिनका दोहराना कोई जरूरी नहीं और न मुझे याद हैं । हाँ, मैंने पूछा, 'तुम कहाँ जाओगी ?'

नसीबन : 'हम तो गदाई को निकले है ।'

मैं : 'नहीं समझी ।'

नसीबन : 'ए लो, गदाई नहीं जानतीं, कैसी पतुरिया हो ।'

मैं : 'बहन, मैं क्या जानूँ; गदाई तो भीख माँगने को कहते हैं ।'

नसीबन : 'हमारे दुश्मन भीख माँगें । और सच पूछो, तो मैं कहीं पतुरिया की जात ही भीख माँगनी है । इसमें डरेदार हो या न हो ।'

मैं : 'हाँ सच तो है । मगर मुझे नहीं मालूम था, गदाई किसे कहते हैं ।'

नसीबन : 'साल में एक मर्तबा हम लोग घर से निकल के गाँव-गाँव फिरते हैं । अमीर, रईसों के मकान पर जा के उतरते हैं । जो कुछ जिससे बन पड़ता है, हमें देता है । कहीं मुजरा होता है, कहीं नहीं होता ।'

मैं : 'अच्छा, इसको गदाई कहते हैं ।'

नसीबन : 'हाँ, अब समझीं ।'

मैं : 'यहाँ किसी रईस के पास आई हो ?'

नसीबन : 'यहाँ से थोड़ी दूर पर एक शम्भू ध्यान सिंह राजा की गढ़ी है,

उन्हीं के पास गई थी। राजा साहब को बादशाही हुक्म पहुँचा है, डाकुओं के बन्दोबस्त को गये हुए हैं। कई दिन ठहरी रही। आखिर दम घबराया, यहाँ चली आई। यहाँ से दो कोस पर एक गाँव है, समरिया। वह गाँव बिल्कुल पतुरियों का है। वहाँ मेरी खाला रहती हैं, कल उनके पास जाऊँगी।'

मैं : 'फिर कहाँ जाओगी ?'

नसीबन : 'मैं ठहरी रहूँगी। जब राजा साहब आ जायेंगे, तो फिर गी को जाऊँगी। और बहुत से डेरे भी उनके इन्जार में ठहरे हुए हैं।'

मैं : 'क्या राजा साहब को नाच मुजरे का भी शौक है ?'

नसीबन : 'बहुत शौक था।'

मैं : 'क्यों, अब क्या हुआ ?'

नसीबन : 'जब से एक पतुरिया लखनऊ से लाये हैं, हम लोगों की कोई कदर नहीं रही।'

मैं : 'उस पतुरिया का नाम क्या है ?'

नसीबन : 'नाम तो मुझको याद नहीं। सूखत देखी है। गोरी-गोरी सी है, जरा चेहरे मोहरे की अच्छी है।'

मैं : 'गाती खूब होगी।'

नसीबन : 'गाना बाना खाक नहीं आता। हाँ, नाचनी जरा अच्छा है। राजा साहब उस पर लट्ट है।'

मैं : 'कितने दिनों से वह पतुरिया आई है।'

नसीबन : 'कोई छः महीने हुए होंगे।'

रात को मैंने फ़ैज़अली से रास्ता की खराबी का हाल बयान किया। उन्होंने कहा : 'खातिर जमा रखो। हमने बन्दोबस्त कर लिया है।'

तेरह

दूसरे दिन मुँह-अँधेरे मोहन लाल गंज की सराय से खाना हुए । नसीबन की गाड़ी हमारे पीछे पीछे थी । फ़ैज़अली घोड़े पर सवार थे । हम और नसीबन बातें करते जाते थे । थोड़ी दूर चल के समरिया मिला । नसीबन ने दूर से हमको वह गाँव दिखाया । सड़क के किनारे खेत थे । इनमें कुछ मुँवारियाँ पानी दे रही थीं । कुछ खेत निरा रही थीं । एक पुरायी चल रही थी, उसमें एक मुस्टंडी औरत धोती बाँधे, बैल हाँक रही थी । एक पुर ले रही थी । नसीबन ने कहा, 'यह सब पतुरिया हैं ।' मैं ने दिल में कहा, बाह पेशा भी क्या, फिर इस क़दर मेहनत जो मर्दों से मुश्किल हो । आखिर इन को पतुरिया होना क्या जरूर था, मगर इनकी सूरतें भी ऐसे ही कामों के लायक हैं । लखनऊ में जो कंडे वालियाँ, दही वालियाँ, घोसवें आती हैं, उनकी शक्ल भी ऐसी ही होती है । नसीबन वहाँ से खससत हुई ।

कोई दो कोस जा के एक ढलान मिला । जा बजा वीहड़, बड़े बड़े गार । सामने नदी का किनारा नज़र आया । दोनों तरफ़, दूर तक, गुन्जान दरख्तों की कतार थी । जब हम इस मौका पर पहुँचे हैं, वृष अच्छी तरह निकल चुकी है । कोई पहर दिन बढ़ा होगा । इस सड़क पर सिवा हमारे कोई रास्ता चलते दिखाई न देता था । चारों तरफ़ सन्नाटा था । नदी के पास पहुँच के फ़ैज़अली ने घोड़ा आगे बढ़ाया । मैं रोकती की रोकती रह गई । यह जा, यह जा, बहुत दूर निकल गये । थोड़ी देर तक घोड़ा नज़रों से गायब रहा, फिर नदी

के उस पार जा के मालूम हुआ ।

हमारी गाड़ी इसी तरह चली जाती थी, गाड़ीवान गाड़ी हाँक रहा था । माईस घोड़े के पीछे दौड़ा चला गया था । अब मैं हूँ और गाड़ीवान है । इतने में, मैंने दूर से देखा, कि दस पन्द्रह गँवार गाड़ी की तरफ दौड़े चले आते हैं । मैंने दिल में कहा खुदा खैर करे । थोड़ी देर में गँवारों ने आकर गाड़ी को घेर लिया । सब तलवारें बाँधे हुए थे । बन्दूकें कंधे पर थीं । तोड़े सुलग रहे थे ।

एक गँवार : (गाड़ीवान से) 'गाड़ी रोक । कौन है गाड़ी में ? '

गाड़ीवान : 'यह सवारी बरेली से आई है, उम्माव का भाड़ा किया है ।'

गँवार : 'रोक गाड़ी ।'

गाड़ीवान : 'गाड़ी क्यों रोकें ? खान साहब के यहाँ की ज़नानी सवारी है ।'

गँवार : 'कोई मर्द साथ नहीं है ?'

गाड़ीवान : 'मर्द आगे बढ़ गये हैं, आते होंगे ।'

गँवार : 'उत्तरो बीबी, गाड़ी से ।'

एक : 'पर्दा खींच के खींच लो. सुमरी पतुरिया तो है, इसका पर्दा कौन । एक गँवार आगे बढ़ा । गाड़ी का पर्दा उलट के मुझे गाड़ी से उतारा । तीन आदमी मुझे घेर के खड़े हो गये । इतने में नदी की तरफ से गर्द उठी और घोड़ों के टापों की आवाज़ आई । जब घोड़े करीब आये, मैंने देखा, आगे फ़ौज अली का घोड़ा है । पीछे और दस पन्द्रह सवार हैं । गँवारों ने देखते ही बन्दूकों की बाढ़ मारी । इसमें दो सवार उधर के गिर पड़े । फिर तलवारें म्यान से निकालीं । सवार सिर ही पर आ गये थे, उधर से भी तलवारें खिंच गईं । दो एक हाथ चले होंगे, तीन गँवार इधर से ज़ल्मी हो के गिरे । एक सवार इधर गिरा । गँवार भाग निकले । अच्छा कहाँ जाओगे ? देखो नदी के उस पार क्या होता है ।

गँवारों के जाने के बाद, मैं फिर गाड़ी में बैठी । जिस सवार के ज़ल्म आया था, उसके पट्टियाँ कसी गईं । वह भी गाड़ी में मेरे साथ बिठाया गया । गाड़ी खाना हुई । अब दो सवार हमारी गाड़ी के इधर उधर है । कुछ सवार आगे

हैं। कुछ पीछे हैं।

फ़ैजअली (अपने साथी से) : 'भाई किसी तरह लखनऊ में निकलना ही नहीं होता था। बड़ी मुश्किल से जान छुड़ा के आया हूँ।'

फ़जल अली : 'यह नहीं कहते; ऐश में पड़े थे।'

फ़ैजअली : 'हाँ, यह तो कहोगे ही !'

फ़जल अली : 'कहेंगे क्या, तहना भी तो साथ साथ है। ज़रा भाभी को ज़रम भी तो देखें।'

फ़ैजअली : 'आपसे कोई पर्दा है। देखिये।'

फ़जल अली : 'डरे पर चल के वामुराद देखेंगे।'

इतने में गाड़ी नदी के किनारे पहुँच गई। किनारा बहुत ऊँचा था। मुझ को गाड़ी से उतर के चलना पड़ा। बड़ी मुश्किल से, गाड़ी दूमेरे किनारे तक पहुँची। जो ज़रूमि सवार गाड़ी पर था, उसके ज़रूम गाड़ी की तकान से खुल गए थे। तमाम गाड़ी में खून ही खून था।

नदी के उस पार जा के ज़रूम फिर से बाँधे गए, गाड़ी धोई गई। फिर में गाड़ी में सवार हुई। करीब दोपहर के, दिन आ चुका था। मुझे खोरों से भूख लगी हुई थी। गाड़ी इसी तरह चल रही थी। इन लोगों का डेरा, कहीं दिखाई नहीं देता था। नदी से कोई चार कोस पर जा के, एक गाँव के पास एक बाग़ था। उस में छोलदारियाँ पड़ी हुई थीं। घोड़े बाँधे हुए थे, लोग इधर उधर फिर रहे थे। कुछ लोग खाना पका रहे थे। यहाँ आ कर हमारी गाड़ी रुकी। हमारे साथ के सवारों को देखते ही, एक आदमी उस पड़ाव से आगे बढ़ा। उसने फ़जल अली के कान में कुछ कहा। फ़जल अली के चेहरे से फ़िक्र के आसार जाहिर होने थे। वह फ़ैजअली के पास घोड़ा बद्धा के आये। फ़ैज अली से चुपके चुपके बातें हुईं।

फ़ैजअली : 'अच्छा, तो देखा जायगा। खाना तो खा लो।'

फ़जल अली : 'खाना खाने की मोहलत नहीं, ऐसे में निकल चलो।'

फ़ैजअली : 'अच्छा, जब तक छोलदारियाँ उखाड़ी जायें, घोड़ों पर जीन कसे जायें, हम लोग खाना खा लें।'

मैं गाड़ी से उतरी, आम के दरखत के नीचे दरी बिछा दी गई । सालन की पतिलियाँ ला के रखी गईं । थई की थई रोटियाँ, मोटी मोटी, टोकरियों में आईं । मैं, फ़ैज़अली और फ़जल अली के तीन आदमियों ने, मिल के खाना खाया । खाना खाते वक्त, अगर्चे चेहरों पर फ़िक्र के आसार थे, मगर हँसी मज़ाक़ होता जाता था ।

जितनी देर में हम ने खाना खाया, छोलदारियाँ उखाड़ के टट्टुओं पर लादी गईं । जीन कसे गये ।

आखिर क़ाफ़िला चल निकला ।

दो ही तीन कोस गये होंगे, कि बहुत से सवार और पैदलों ने आ के घेर लिया । इधर भी सब पहले से तैयार थे, दोनों तरफ़ से गोलियाँ चलने लगीं । लड़ाई में फ़ैज़अली मेरी गाड़ी के ऐन पास रहे । मैं गाड़ी के अन्दर बैठी दुआएँ पढ़ रही हूँ । कलेजा हाथों उटल रहा है । देखिये क्या होता है ? कभी कभी गाड़ी का पर्दा खोल के देख लेती हूँ । यह गिरा, वह मरा । आखिर दोनों तरफ़ से बहुत से ज़ख्मी हुए । हमारे साथ पचास साठ आदमी थे । राजा भ्यान सिंह के आदमी बहुत से थे । एक पर दस दूट पड़े, बहुत से ज़ख्मी हुए । फ़जल अली और फ़ैज़अली मौक़ा पा कर निकल गए । दस बारह आदमी और गिरफ़्तार हुए । इन्हीं में, मैं भी थी ।

चौदह

हम लोगों की गिरफ्तारी के बाद गाड़ीवान ने मित्रत समाजत कर के रिहाई हासिल की। जखमी सवार को मैदान में डाल दिया, जहाँ और लाशें पड़ी थीं। वह तो अपनी जान ले के बरेली की तरफ राही हुआ। मर्दों की मुश्कें कसीं गईं। गद्दी की तरफ खाना हुए। गद्दी वहाँ से कोई पाँच कोस थी, थोड़ी दूर जा कर राजा साहब और उनके साथ के और लोग मिले। राजा साहब खुद घोड़े पर सवार थे। हम लोग सामने गये। मेरी तरफ इशारा कर के पूछा,

राजा : 'यही बी साहब लखनऊ से आई हैं ?'

मैं (हाथ बाँध के) : 'हुजूर कुसूरवार तो हूँ, लेकिन अगर गौर कीजिये तो ऐसा कुसूर भी नहीं। औरत जात, जाल फरेब से आगाह नहीं, मैं क्या जानती थी ?'

राजा : 'अब बेकुसूरी साबित करने की कोशिश न कीजिये। कुसूर आपका साबित है। जो बातें आप से पूछी जायें उनका जवाब दीजिये।'

मैं : 'जो हुक्मे हाकिम।'

राजा : 'लखनऊ में कहाँ भकान है ?'

मैं : 'टकसाल में।'

राजा (आदमियों को इशारा कर के) : 'देखो, तमत खेड़े से एक बैल-गाड़ी ले लो, लखनऊ की रंढियाँ हैं। हमारे देश की पत्नरियाँ नहीं हैं कि

रात भर महफिल में नाचें और वारात के साथ, दस दस कोस तक नाचती चलीं जायें ।'

मै : 'हुजूर को खुदा सलामत रखे ।'

आदमी गये । गद्दी में गाड़ी ले आये, मुझे गाड़ी पर बिठाया । और लोग उसी तरह मुझें कमे साथ साथ थे ।'

गद्दी में पहुँचकर, वह लोग नहीं मालूम कहाँ भेज दिये गये । मैं कोट में बुलाई गई । सुथरा मकान रहने को दिया गया । दो आदमी खिदमत को मुकर्रर हुए । पका पकाया खाना, पूरियाँ, कचौरियाँ, मिठाईयाँ, तरह तरह के अचार खाने को । लखनऊ छोड़ने के बाद, आज रात को, खाना सेर हो हो के खाया । दूसरे दिन मुबह को मालूम हुआ, कि और कैदी लखनऊ को खाना कर दिये गये । मुझको रिहाई का हुक्म है, मगर अभी राजा साहब खलसत नहीं करेंगे । फिर दिन चढ़े राजा साहब ने बुला भेजा ।

राजा : 'अच्छा, हमने तुमको रिहा किया, फ़ैवू और फ़ज़ल अली दोनों वदमाश निकल गये । और वदमाश जो गिरफ्तार हुए, लखनऊ में पचहुँकर अपनी सज़ा को पढेंगे । बेशक, तुम्हारा कोई कुसूर नहीं है, मगर आइन्दा ऐसे लोगों से न मिलना । अगर तुम्हारा जी चाहे, दो चार दिन यहाँ रहो । हमने तुम्हारे गाने की बहुत तारीफ़ सुनी है ।'

नसीबत की वह बात याद आई कि राजा साहब के पास लखनऊ की कोई रंडी है, हो न हो उसने मेरी तारीफ़ की होगी ।

मै : 'हुजूर ने किस से सुना ?'

राजा : 'अच्छा यह भी मालूम हो जायेगा ।'

थोड़ी देर के बाद लखनऊ की वह रंडी तलब हुई । लखनऊ की रंडी कौन ? खुरशीद जान । खुरशीद दौड़ के मुझ से लिपट गई । दोनों मिल के रोने लगीं । आखिर राजा साहब के खौफ़ से फ़ौरन अलहदा हो कर सामने अदब से बैठ गई । साजिन्दे तलब हुए । रिहाई की खबर सुन के, मैंने बक्त के मुताबिक़, एक राज़ल कह ली थी । बहुत से शेर थे, जो याद आते हैं सुनाये देती हूँ । हर एक शेर पर राजा साहब और हाजरीने जलसा बहुत ही खुश

उमराव जान 'अदा'

थे । बेखुदी का आलम था । राजाल यह है ।

कैदिये उत्फ्रते सैयाद रिहा होते हैं,
खुशबियाबने चमन जाद रिहा होते हैं ।
तू भी छोड़े तो तेरी जुल्फ न छोड़े हमको,
कोई हम ऐ सितम ईजाद रिहा होते हैं ।
हसरते जौके असोरी कि खफा है सध्याद,
आज हम बा दिले-नाशाद रिहा होते हैं ।
गमे बुनिया न सही और हजाराँ गम हैं,
कैदे हस्ती से कब आजाद रिहा होते हैं ।
ऐ 'अदा' -कैदे मुहब्बत से रिहाई मालूम,
कब असोरे गमे सैयाद रिहा होते हैं ।

मकाना सुनके राजा साहब ने पूछा, 'अदा किसका तख्तलुस है ।' खुरशीद ने कहा, 'खुद इन्हीं की कही हुई है ।' राजा और भी खुश हुए ।

राजा : 'अगर ऐसा जानते, तो हम आपको हरगिज न रिहा करते ।

मैं : 'गजल से हुजूर को मालूम हो गया होगा, कि इसका तो अफसोस है । मगर अब तो हुजूर हुक्म दे चुके और लौंडी अजाद हो चुकी ।

इसके बाद जलसा वरखास्त हुआ । राजा साहब अन्दर रसोई खाने चले गये, खुरशीद और मुझ में खूब बातें हुई ।

खुरशीद : 'देखो बहन ! मेरा कोई कुसूर नहीं, खानम साहब से और राजा साहब से बहुत दिनों से लाग डाँट थी । राजा साहब ने कई मर्तबा मुझको बुलाया, उन्होंने साफ़ इनकार कर दिया । आखिर ऐश वाग के मेले में इनके आदमी लगे हुए थे, मुझको जबरदस्ती उठा लाये । जब से यहीं हूँ । हर तरह की मेरी खातिर होती है । सब तरह का आराम है ।'

मैं : 'भुए गँवारों में खूब तुम्हारा जी लगा है ।'

खुरशीद : 'यह बात तो सच है ; मगर मेरी तबीयत को जानती हो; रोज़ एक नये शरस के पास जाने के बिल्कुल खिलाफ है । वहाँ यही करना पड़ता था । खानम को जानती हो । यहाँ सिर्फ़ राजा साहब से सावका है और सब मेरे

हुक्म के तावे हैं। दूसरे यह मेरा वतन है। यहाँ की हर चीज मुझे अच्छी मालूम होती है।'

मैं : 'तो तुम्हारा इरादा लखनऊ जाने का नहीं है ?'

खुरशीद : 'मुझे तो मुआफ़ करो। यहाँ अच्छी तरह हूँ, बल्कि तुम भी यहाँ रहो।'

मैं : 'यहाँ तो न रहूँगी, मजबूरी की और बात है।'

खुरशीद : 'लखनऊ जाओगी ?'

मैं : 'नहीं।'

खुरशीद : 'फिर कहाँ ?'

मैं : 'जहाँ खुदा ले जाये।'

खुरशीद : 'अभी कुछ दिनों रहों।'

मैं : 'हाँ, अभी तो हूँ।'

पन्द्रह बीस दिन तक, मैं गढ़ी में रही। खुरशीद से रोज़ाना मिलती थी। खुरशीद का दिल वहाँ लगा हुआ था। मेरा जी बहुत घबराता था। आखिर राजा साहब से मैंने अर्ज किया,

मैं : 'हुजूर ने मुझे हुक्मे रिहाई दिया है ?'

राजा : 'हाँ। तो फिर क्या जाना चाहती हो ?'

मैं : 'जी हाँ। अब लौंडी को रखसत कीजिये। फिर हाज़िर हूँगी।'

राजा : 'यह लखनऊवा फ़िक्के हैं। अच्छा, कहाँ जाओगी ?'

मैं : 'कानपुर।'

राजा : 'लखनऊ न जाओगी ?'

मैं : 'हुजूर, लखनऊ क्या मुँह लेके जाऊँगी ? खानम से कैसे शमिन्दगी होगी। साथ बालियाँ क्या क्या कहेंगी ?'

अब्वल तो मेरा इरादा लखनऊ जाने का न था। दूसरे यह भी ख्याल था, कि लखनऊ जाने को अगर राजा साहब से कहूँगी, तो शायद रिहाई न होगी। क्योंकि वहाँ जाने से खुरशीद का हाल खुल जाता। शायद खानम कोई आफ़त बरपा करती।

राजा साहब मेरे इस इरादे से बहुत खुश हुए ।

राजा : 'तो लखनऊ कभी न जाओगी ?'

मैं : 'लखनऊ में मेरा कौन बैठा है ? गाने बजाने का पेशा है, जहाँ रहूँगी कोई न कोई कदरदान निकल ही आयेगा । खानम की कैद में, अब मुझे रहना मंजूर नहीं । अगर वहाँ रहना होता, तो निकल क्यों आती ?'

मैंने राजा साहब को यक़ीन दिला दिया, कि मैं लखनऊ बिल्कुल न जाऊँगी ।

दूसरे दिन राजा साहब ने मुझे रखसत किया । दस अश्वरफ़ियाँ इनाम दीं, एक दुशाला दिया, एक रूमाल, एक रथ मय तीन वैन के । शरज़ेकि मुझे डेरा दार पतुरिया बना दिया । एक गाड़ीवान और दो आदमी मेरे साथ किये । उन्नाव को रवाना हुई । वहाँ पहुँच कर सलारू भटियारे के मकान पर ठहरी । राजा साहब के आदमियों को रखसत किया । सिर्फ़ गाड़ीवान रह गया ।

सरे शाम, मैं अपनी कोठरी के सामने बैठी हूँ । मुसाफ़िर आते जाते हैं । भटियारियाँ चिल्ला रही हैं, 'मियाँ मुसाफ़िर धर-धर, मकान भाड़ा हुआ है, हुक्का पानी का आराम, घोड़े टट्टू के लिये नीम का साया'

इतने में क्या देखती हूँ कि फ़ैज़अली का साईन चला आता है । सराय के फाटक ही से उसकी निगाह मुझ पर पड़ी । मेरे उसके आँखें चार हुई । वह मेरे पास चला आया । बातें करने लगा । मेरा हाल पूछा, उसके बाद मैंने फ़ैज़अली का हाल पूछा । उसने कहा, 'उनको, आपके उन्नाव आने की खबर मिल गई है । आज रात को पहर डेढ़ पहर रात गये, ज़रूर आ जावेंगे ।'

यह सुनके मेरा दिल धड़कने लगा । वजह यह थी, कि मुझे अब फ़ैज़अली का साथ मंजूर न था । तमत खेड़े के वाक़या के बाद, मैं समझी थी कि अब गलू खलासी होगी । उन्नाव में फ़ैज़अली जान पर नाज़िल हो गये । मामूली बात चीत की, उन्नाव से रवानगी का मशवरा होने लगा । बड़ी देर तक बातें होती रहीं । आख़िर यह सलाह ठहरी, कि गाड़ीवान को रखसत करो । साईस गाड़ी हँकायेगा । मैं खुद घोड़े को देख लूँगा । फिर यह ठहरी, कि गाड़ी सलारू भटियारे के पास छोड़ दो । रातों रात गंगा के उस पार उतर चलो । अब

क्या कर सकती थी। फ्रैंजअली के बस में थी। जो उन्होंने कहा, मुझे चारों नाचार मन्जूर करता पड़ा। फ्रैंजअली ने सलारू को पुकारा। किनारे ले जा कर देर तक बातें कीं। कोई आधी रात गये, अपने साथ मुझे घोड़े पर बिठाया। सराय में बाहर हुए। पाँच छः कोस जमीन का चलना, रात का दक्का, मेरा बंद बंद टूट गया। मुद्दों दर्द रहा। अखिर ज्यूँ त्यूँ कर के गंगा के किनारे पहुँचे। बड़ी मुश्किल से नाव तलाश की। उस पार उतरे, फ्रैंजअली ने कहा, 'अब कोई ख़ाफ़ नहीं है।' सुबह होते, होते कानपुर पहुँच गये। फ्रैंजअली ने मुझको लाठी महल में उतारा। खुद मकान की तलाश में निकले। थोड़ी देर के बाद आके कहा, 'यहाँ ठहरना ठीक नहीं है। मकान हमने ठहरा लिया है, वहाँ चली चलो।' डोली किराया की की।

थोड़ी देर में, डोली, एक पुख्ता आलीशान मकान के दरवाज़े पर ठहरी। फ्रैंजअली ने हमको यहाँ उतारा। मकान के अन्दर क्या देखती हूँ, कि एक दालान में दो खरी चारपाइयाँ पड़ी हैं। एक चटाई बिछी है, इस पर एक अजीब शकल का हुक्का रखा हुआ है, जिसे देखते ही पीने से मुझे नफ़रत हो गई। मकान का करीना देख के, दिल को बहशत होने लगी। थोड़ी देर बाद फ्रैंजअली ने कहा, 'अच्छा, तो मैं बाज़ार से कुछ खाने को ले आऊँ।' मैंने कहा, 'बेहतर है, मगर जरा जल्दी आना।' फ्रैंजअली बाज़ार को गये, मैं इसी में अकेली बैठी हूँ।

अब सुनिये! फ्रैंजअली बाज़ार जो गये, तो वहीं के हो रहे। न आज आते हैं, न कल। एक घड़ी, दो घड़ी, पहर, दो पहर, पहर कहाँ तक कहूँ, दोपहर गुज़री, शाम होने आई। उन्नाव में सरेशाम खाना खाया था। रात को घोड़े पर चलने की थकान, नींद का ख़ुमार, सुबह से मुँह पर चुल्लू पानी तक नहीं पड़ा। ठुकड़ा तक नहीं खाया। भूख के मारे दम निकला जाता है। थोड़ी देर में सूरज डूब गया, अँधेरा होने लगा। आखिर रात हो गई। या खुदा अब क्या करूँ? मुँह खोल दिया, उठ बैठी। इतना बड़ा हँडार मकान, भाँय भाँय कर रहा है। हयात, खुदा की जात और मैं अकेली। यह मालूम होता था, अब इस कोठरी से कोई निकला। वह सामने दलान में कोई टहल रहा है।

कोठे पर धम धम की आवाज आई। ज़ीने से कोई खट खट उनरा बला आता है। दोपहर रात हो गई। अब तक अंगनाई और दीवारों पर चाँदनी थी, अब चाँद भी छिप गया, बिल्कुल अंधेरा घुप हो गया। आखिर, मैं दुशाले में मुँह लपेट के पड़ रही। फिर कुछ खटका हुआ। रात पहाड़ हो गई। काटे नहीं कटती है। आखिर ज्यों त्यों कर के सुबह हुई।

दूसरे दिन सुबह को अजीब ही आलम था। अब लखनऊ की कदर हुई। दिल में कहती थी, या खुदा, किस मुन्नीवन में जान पड़ी। लखनऊ का ऐश, चैन और अपना कमरा याद आता था। इधर एक आवाज दी, उधर आदमी हाज़िर। हुक्का, पान, खाना, पानी जो कुछ हुआ, इधर मुँह किया उधर नामने मौजूद। खुलासा यह, कि आज भी सुबह में दोपहर हो गई और कैज़-अली न आये। इस हालत में, अगर कोई नकबन्त बीबी चार दीवारी की होती, तो जरूर ही घुट घुट के मर जाती। मेरा हियाब खुला हुआ तो न था, मगर फिर भी सैकड़ों मर्दों में बैठ चुकी थी। कानपुर न सही, लखनऊ के तो अवसर गली कूचों से वाकिफ़ थी। यहाँ की भी सराय देखी थी, बाज़ार देखा था। अब मेरी बला इस खाली मकान में बैठ रही। भप से कुण्डी खोल, गली में निकल खड़ी हुई। देखती क्या हूँ, कि एक चाखस, सरकारी वर्दी पहने, घोड़े पर सवार, दस पन्द्र गरक-अन्दाज़ साथ, उनके हलके में मियाँ कैज़-अली, टैंडियाँ कसी हुई, सामने से चले आ रहे हैं। यह माजरा देखते ही, मैं सन्न हो गई, वहीं ठिठक गई। एक पतली सी गली मिली। इस गली में एक मस्जिद थी। मैंने दिल में ख्याल किया, कि सब से बेहतर, खुदा का घर है। थोड़ी देर यहीं ठहरना चाहिये। दरवाज़ा खुला हुआ था। मैं दरना, अन्दर चली गई। यहाँ एक मौलवी साहब से सामना हुआ। काले से थे, सिर मुँडा हुआ, एक नीली तहमद बाँधे धूप में टहल रहे थे। पहले तो शायद समझे, मैं ताक़ भरने आई हूँ, बहुत खुश हुए। जब मैं चुपके, सेहन के किनारे पाँव लटका के बैठ गई, तो क़रीब आ के पूछने लगे, 'क्यों बी साहब ! आपका यहाँ क्या काम है ?'

मैं : 'मुसाफ़िर हूँ, खुदा का घर समझ के थोड़ी देर के लिये बैठ गई हूँ।

अगर आपको नागवार ही, तो अभी चली जाऊँ ।'

मौलवी साहब, अगचें बहुत ही बेतुके थे, मगर मेरी लगावट और दिलफ़रेब तक़रीर ने जादू का असर किया । भला जवाब क्या मुँह से निकलता, हक्का बक्का इधर उधर देखने लगे । मैं समझ गई कि फ़रेब के जाल में आ गये ।

मौलवी साहब (थोड़ी देर बाद संभल के) : 'अच्छा, तो आपका कहीं से आना हुआ ?'

मैं : 'जी कहीं से आना हुआ, मगर अभी तो यहीं ठहरने का इरादा है ।'

मौलवी (बहुत ही घबराके) : 'मस्जिद में ?'

मैं : 'जी नहीं, बल्कि आपके हुजरे में ।'

मौलवी साहब : 'लाहौल विला कुव्वत !'

मैं : उई मौलवी साहब ! मुझे तो आपके सिवा, यहाँ और कोई नज़र नहीं आता ।'

मौलवी साहब : जी हाँ, मैं अकेला रहता हूँ । इसी से तो मैंने कहा, मस्जिद में आपका क्या काम है '

मैं : 'यह क्या खासियत है कि जहाँ आप रहें, वहाँ दूसरा नहीं रह सकता ? मस्जिद में हमारा कुछ काम नहीं, यह भी खूब कही ? आपका क्या काम है ?'

मौलवी साहब : 'मैं तो लड़के पढ़ाता हूँ ।'

मैं : 'मैं आपको सबक दूँगी ।'

मौलवी साहब : 'लाहौल विला कुव्वत ।'

मैं : 'लाहौल विला कुव्वत ? यह आप हर दफ़ा लाहौल क्यों पढ़ते हैं ? यह क्या शैतान आपके पीछे फिरता है ?'

मौलवी साहब : 'शैतान आदमी का दुश्मन है, उससे हर वक़्त डरना चाहिये ।'

मैं : 'खुदा से डरना चाहिये, मुए शैतान से क्या डरना ? और यह क्या आपने कहा, आदमी हैं ?'

मौलवी साहब (ज़रा बिगड़ के) : 'और कौन हूँ ?'

मैं : 'मुझे तो आप जिन मालूम होते हैं । अकेले इस मस्जिद में रहते हैं ।

आपका दिल भी नहीं धवराता है ?'

मौलवी साहब : 'फिर क्या करें ? हमें तो अकेले की आदत हैं ।'

मैं : 'इसी से तो आपके चेहरे पर वहुदात बरसती है । वह आपने नहीं सुना, तनहा न बैठ कि दीवानगी है ।'

मौलवी साहब : 'अजी वह कुछ भी सही, जिस हाल में हम हैं, खुश हैं । आप अपना मतलब कहा कहिये ?'

मैं : 'मतलब तो किताब देखने से हल होगा, अभी तो जबानी मुवाद्दा है ।'

मौलवी साहब : 'क्या खूब ?'

मैं : 'क्यों न हो ?'

मैं मौलवी साहब को खूब भँभोड़ियाँ देती, मगर इस वक्त भूख के मारे मुँह से बात नहीं निकलती थी ।'

रसवा : 'यह मौलवी साहब से इस कदर मजाक की क्या जरूरत थी ?'

उमराव जान : 'ए है । इसका हाल न पूछो, बाज़ आदमियों की सूरत ही ऐसी होती है, कि खामखवाह हँसने को जी चाहता है ।'

रसवा : 'जी हाँ, जैसे किसी की मुँडी हुई खोपड़ी देखकर, बाज़ आदमियों की हथेली खुजलाती है, चपत लगाने को जी चाहता है ।'

उमराव जान : 'बस यही समझ लीजिये ।'

रसवा : 'अच्छा तो मौलवी साहब में ऐसी कौन सी बात थी, जिस से मजाक करने को जी चाहता था ?'

उमराव जान : 'क्या कहूँ, कुछ वयान नहीं हो सकता । जवान आदमी थे, सूरत भी कुछ बुरी न थी, चेहरे पर हौनकपन था, सिर पर लम्बे लम्बे बाल थे, मुँह पर दाढ़ी थी, मगर कुछ ऐसी कि, बेतुकेपन की दृष्टि से भी ब्यादा बढ़ी हुई थी । मूछों का बिल्कुल सफ़ाया था । तहमद बहुत ऊँची बँधी हुई थी । सिर पर छोट की बड़ी सी टोपी, जो सिर की पूरी चौहद्दी को ढाँके हुए थी । बात करने का अजब अन्दाज़ था । मुँह जल्दी से खुलता था, फिर बंद हो जाता था । नीचे का होंठ, कुछ अजब अन्दाज़ से ऊपर को चढ़ जाता था, और

इसके साथ ही तुक्केदार दाढ़ी कुछ अजब अन्दाज से हिल जाती थी। इसके बाद नाक से कुछ 'डूँह' सा निकलता था। मालूम होता था, जैसे कुछ खा रहे हैं, और बातें भी करते जाते हैं। एहतिथातन मुँह जल्दी से बंद कर लेते हैं, कि ऐसा न हो कुछ निकल पड़े।

रसवा : 'क्या वाकई कुछ खा रहे थे ?'

उमराव : 'जी नहीं, जुगाली कर रहे थे।'

रसवा : 'अबसर कठमुल्ला कुछ ऐसी ही सूरत बना लेते हैं, जिसे देख के बेवकूफों को डर लगता है और अक्लमन्दों को हँसी आती है। मुझे ऐसी सूरतें देखने का बहुत शौक है।'

उमराव जान : 'और सुनिये। आपकी गुप्तगू में एक मज्जा और भी था, वह यह, कि अबसर मुँह फेर लिया करते थे।'

रसवा : 'तो यह ऐन तमीजदारी है। इसलिये कि बात करते वक़्त, आपके मुँह से थूक उड़ता होगा।'

उमराव जान : 'कुछ और भी अज़ां करूँ ?'

रसवा : 'बस अब मुआफ़ कीजिये।'

उमराव जान : 'अल क्रिस्सा मैंने जेब से एक रुपया निकाला।'

मौलवी (यह समझ के कि मैंने दिया है, जल्दी से हाथ तो बढ़ा दिया और मुँह से) : 'इसकी क्या जरूरत थी।'

मैं (मुस्कुरा के) : 'इसकी बहुत जरूरत थी, इसलिए कि मुझे भूख लगी है, किसी से कुछ खाने को तो मँगा दीजिये।'

मौलवी (अब, भैंपे तो यूँ बातें बनाने लये) : 'मैं समझा। (मैंने दिल में कहा, समझे क्या खाक। समझते तो पत्थर के हो जाते) इसी से तो कहता हूँ, इसकी क्या जरूरत थी। क्या खाना, यहाँ मुमकिन नहीं ?'

मैं : 'मुमकिन ! जल्दी या लज्जतदार।'

मौलवी : 'जल्दी तो मुमकिन नहीं, मेरा एक शागिर्द खाना लाता होगा। आप भी खा लीजियेगा।'

मैं : 'जल्दी मुमकिन नहीं, लज्जतदार की आपको तौफ़ीक़ नहीं, लिहाज़ा

बाज़ार से कुछ ला दो ।'

मौलवी : 'इक ज़रा सब्र कीजिये, खाना आता ही होगा ।'

मैं : 'अब सब्र करना बस की बात नहीं, और दूसरे मैंने सुना है, कि रम-जान शरीफ साहब एक महीने तमाम दुनिया में सैर करते हैं, और ग्यारह महीने इसी मस्जिद में रहते हैं ।'

मौलवी : 'इस बक़्त तो कुछ हाज़िर नहीं, मगर मेरा एक शागिर्द खाना ले के आता ही होगा ।'

मैं : 'और अगर मान लिया जाय कि खाना आया भी, तो वह आपके लिये भी काफ़ी न होगा । मेरे साथ का क्या मतलब इसमें, और फिर इन्तज़ार तो मौत के मानिन्द है । तब तक तो वीमार मर जायगा ।'

मौलवी : 'अहा ! आप तो बहुत क़ाबिल मालूम होती हैं ।'

मैं : 'मगर मेरे ख़याल में आप किसी क़ाबिल नहीं ।'

मौलवी : 'वाक़ई ऐसा ही है, मगर.....'

मैं (बात काटकर) : 'मगर इसलिये कि यहाँ तो आँतें कुल हूँ अल्ला पढ़ रही है । और आप तक्रारें करते हैं ।'

मौलवी : 'अच्छा तो मैं अभी लाया ।'

मैं : 'लिल्लाह, ज़रा जल्दी कीजिये ।'

खुदा खुदा करके मौलवी साहब गये और कोई घंटा डेढ़ घंटा बाद, चार खमीरी रोटियाँ और एक मिट्टी के प्याले में थोड़ा सा नीला शोरबा, लाके मेरे सामने रख दिया । देख के जान जल गई । मौलवी साहब की सूरत देखने लगी । मौलवी साहब कुछ और ही समझे ।'

मौलवी (फ़ौरन साढ़े चौदह गंडे पैसे, कोई घेले की कौड़ियाँ, चादर के कोने से खोल के सामने रख दिये) : 'सुनिये साहब, चार पैसे की रोटियाँ हैं, पैसा का सालन है, घेला भाँज मैं गया । आपकी जमा आपके सामने है । पहले गिन लीजिये, तो खा लीजिये ।'

मैंने फिर एक दफ़ा मौलवी साहब की सूरत देखी, मगर भूख बुरी बला है ! जल्दी-जल्दी निवाले उठाने शुरू किये । जब दो चार निवाले खा चुकी, तो

मौलवी साहब की तरफ़ मुखातिब हुई ।

मैं : 'मैंने कहा, मौलवी साहब ! क्या इस उजड़े शहर में, यही खाने को मिलता है ?'

मौलवी : 'तो क्या यहाँ लखनऊ की तरह महमूद की दुकान है, जहाँ पुलाव-बर्दा आठ पहर तैयार मिलता है ?'

मैं : 'हलवाई की दुकान तो होगी ?'

मौलवी : 'हलवाई की दुकान ? यह तो मस्जिद नीचे है ।'

मैं : 'तो फिर चार कोस जाना क्या जरूर था ? दोपहर के बाद आये और ले के क्या आये ? गुण कुफ़ों का खाना ।'

मौलवी : 'ऐसा तो न कहिये, आदमी खाते हैं ।'

मैं : 'आप ऐसे आदमी खाते होंगे, वासी खमोरी राटियाँ और नीला शोरवा ।'

मौलवी : 'नीला तो नहीं है । अच्छा तो दही ला हूँ ?'

मैं : 'जी नहीं, रहते दीजिये, मुआफ़ कीजिये ।'

मौलवी : 'पैसों का खयाल न कीजिये, मैं अपने पास से लाये देता हूँ ।'

मैं कुछ जवाब भी न दे पाई थी, कि मौलवी साहब मस्जिद से बाहर चले गये और एक आबखोरे में, खुदा जाने कब का सड़ा, खट्टा दही उठा लाये और इस तरह सामने लाके रख दिया, गोया कि आपने हातिम की कन्न पर लात मार दी हो ।

मैं हाथ धोने उठी थी, मौलवी साहब समझे, मस्जिद से दफ़ा होती है ।

मौलवी : 'और यह पैसे और कौड़ियाँ तो उठा लीजिये ।'

मैं : 'मेरी तरफ़ से मस्जिद में चिरागी चढ़ा दीजिये ।'

मुँह हाथ धो के, अपनी जगह पर आ बैठी । मौलवी साहब से बातें करनी लगी । कानपुर में, मौलवी साहब की ज्ञात से मुझे बहुत आराम मिला । इन्हीं की मार्फ़त, एक कमरा किराये पर लिया । निवाड़ी पलँग, दरी, चाँदनी, छत पर्दे, ताँवे के वर्तन और सब जरूरत का सामान खरीद लिया । एक मामा खाना पकाने को और एक ऊपर के काम को । दो और खिदमतगार नौकर रख

लिये, ठाठ से रहने लगी। अब साजिन्दों की तलाश हुई। यों तो बहुत से आये, मगर किसी का वाज पसन्द न आया। आखिर लखनऊ का एक तबलिया मिल गया। यह खरीता जी के खानदान का शागिर्द था। इससे ग़ुल परग़त मिली। इसी की मार्फ़त दो सारंगिये, कानपुर के, ज़रा समझदार थे, बुलवाये। ताएफ़ा दुरुस्त हो गया। शब को, पहर डेड़ पहर रात गये तक, कमरा पर गाने बजाने का चर्चा होने लगा। शहर में यह खबर मशहूर हो गई, कि लखनऊ से कोई रंडी आई है। अक्सर मर्द आने लगे। शायरी भी खूब चमकी। कोई ही दिन ऐसा कमबख़्त होगा, जब किसी जलसा में जाना न होता हो। मुजरे कसरत से आते थे। थोड़े ही दिनों में बहुत सा रुपया कमा लिया। अगर्चे कानपुर के लोगों का राह-रवैया, बोल-चाल पसन्द न थी, बात-बात पर लखनऊ याद आता था। मगर खुद-मुख्तारी की ज़िन्दगी में कुछ ऐसा मज़ा है, कि वापस जाने को जी नहीं चाहता था। मैं जानती थी, कि अगर लखनऊ जाऊँगी, तो खानम की नोबी बनकर रहना पड़ेगा। क्योंकि इस पेशा में रहकर, खानम से अलहदा रहना किसी तरह मुमकिन न था। एक तो इस सबब से, कि तमाम रंडियाँ खानम का दबाव मानती थीं। अगर मैं अलग हो के रहती, तो कोई मुझ से न मिलती। दूसरे उम्दा साजिन्दों का वहाँ पहुँचना दुश्वार था। नाच मुजरे का ढक्क़र क्योंकर चल सकता था। जिन सरकारों में मेरी रसाई होती थी, वह भी खानम की वजह से थी। अगर्चे मेरा शुमार, अच्छी गाने वालियों में था, मगर लखनऊ में इस काम के करने वाले बहुत से हैं। अच्छे दुरे का इम्त-याज़ खास लोगों को होता है। आम लोगों में नाम विकता है। बड़े आदमियों की निगाह, अक्सर ऊँचे ही कमरों पर जाती है। इस हालत में मुझे कौन पूछता? कानपुर में मेरे हाँसले से ज़्यादा, मेरी क्रदरदानी होती थी। किसी अमीर रईस के हाँ कोई शादी-ब्याह न होता था, जिसमें मेरा बुलाना वाइसे-फ़लख न समझा जाता हो। बाहर आकर इस बात का अन्दाज़ हो सकता है, कि लखनऊ क्या चीज़ है?

यहाँ एक साहब हज़रत शारिक लखनवी बहुत मशहूर हैं। माने हुए उस्ताद समझे जाते हैं। सैकड़ों आपके शागिर्द हैं। लखनऊ में, कोई इनका नाम भी न

जानता था। एक दिन का किरना सुनिये। एक साहब मेरे कमरे पर तशरीफ लाये। बातचीत के दौरान में शेरी-शायरी का कुछ चर्चा निकला। छूटते ही उन्होंने पूछा : 'आप हज़रत शारिक लखनवी को जानती हैं?' मैंने कहा, 'नहीं, कौन शारिक?' यह साहब उनके शागिर्दों में थे, फ़ौरन विगड़ गये।'

वह साहब : 'मैं तो सुनता था, आप लखनऊ की रहने वाली हैं?'

मैं : 'जी हाँ, गरीबखाना तो लखनऊ ही में है।'

वह साहब : 'भला कहीं हो सकता है, कि लखनऊ में हों, और हज़रत उस्ताद को न जानें?'

मैं : 'लखनऊ के मशहूर शायरों में कौन ऐसा है, जिसको मैं, न जानती हूँ। उस्तादों का तो ज़िक्र ही क्या, उनके मशहूर शागिर्दों में से भी कोई ऐसा न होगा जिसका कलाम, मैंने न सुना हो। उनके नाम नामी से तो मतला फ़रमाएँ, तख़ल्लुस तो मैंने कभी सुना नहीं।'

वह साहब (चीं बज़बीं होकर) : 'नाम लेने से क्या फ़ायदा। तख़ल्लुस, पूरब से पच्छिम और उत्तर से दक्खिन तक लोगों की जबान पर है। हाँ, हाँ, आप नहीं जानती, न जानें।'

मैं : 'हज़ूर सुआफ़ कीजियेगा। मेरे नज़दीक तो शायराना मुवालागा है। मगर आपके उस्ताद हैं, आपको ऐसा ही कहना चाहिये। अच्छा, तो नाम नामी से तो मतला फ़रमाईये। मुमकिन है कि मैंने तख़ल्लुस न सुना हो, नाम से वाकिफ़ हूँ?'

वह साहब : 'मीर हाशिम अली साहब 'शारिक'।'

मैं : 'इस नाम से तो बेशक कान आशना है, (इतना कह के मैं सोचने लगी या झलाही, यह कौन मीर हाशिम अली साहब हैं। आखिर एक साहब पर शक हुआ) आप के उस्ताद मरसिया ख़ानी भी तो करते हैं?'

वह साहब : 'जी हाँ! मरसियाख़ानी में भी इनकी कोई मिसल नहीं।'

मैं : 'बजा इरशाद हुआ। यानी मीर साहब और भिर्जा साहब से भी बड़े हुए हैं?'

वह साहब : 'इन्हीं साहबों के हम अमर हैं।'

मैं : 'भला किस का मरसिया पढ़ते हैं ?'

वह साहब : 'किसी का मरमिया क्यों पढ़ने लगे ? खुद तमनीफ़ फ़रमाते हैं । अभी सत्ताईसवीं रजव को नया मरमिया पढ़ा था । आम शोहरा था ।'

मैं : 'तो आपको याद होगा ?'

वह साहब : 'मतला तो याद नहीं, तलवार की तारीफ़ में एक बन्द पढ़ा । वह मुझे क्या, तमाम शहर की जवान पर है । कलम तोड़ दिया है ।'

मैं : 'जरा इरशाद कीजियेगा ?'

वह साहब : 'निकली शिलाफ़े-नूर से तपसोरे जौहरो...'

मैं : 'सुभान अल्लाह ! इस बन्द के तो दूर-दूर तक शोहरे हैं । पाँच मिसरे मुझ से सुन लीजिये; क्या कलाम है ?'

वह साहब (बहुत ही खुश होके) : 'जी हाँ ! आपने यह मरसिया लखनऊ में सुना होगा । वही तो मैं कहता था, कि लखनऊ की रहने वाली और फिर झूरी-सखुन का शीक़ । हज़रत शारिक को न जानती हों, ताज्जुब है ? अच्छा अब मैं समझा, यह सज़ाक था ।'

मेरे जी में तो आया, कह दूँ, कि आपके उस्ताद मर के भी जियेंगे तो ऐसा बन्द नहीं कह सकते । मिर्जा दबीर साहब मरहूम का कलाम है, मगर फिर कुछ समझ के चुप रही ।

रुसवा : 'वाक़ई आपने बड़ी अक्लमन्दी की । बुरना बेचारे की रोज़ी में ख़लल आता । मीर हाशम अली शारिक पर क्या मौकूफ़ है, अक्सर साहबान का यही ढंग है । दूसरों का कलाम बाहर जाकर अपने नाम से पढ़ते हैं । चन्द ही रोज़ का ज़िक़्र है, एक साहब, मेरे एक दोस्त की ग़ज़लों के मसविदे चुरा कर ले गये । हैदराबाद दक्कन में सुनाते फिरे । बड़े बड़े लोगों से दाद ली । मगर समझने वाले समझ ही गये । लखनऊ में ख़तूत आये । असल लिखने वाले से बात हुई । वह हँस कर चुप हो रहे । अक्सर साहबों ने लखनऊ को ऐसा बदनाम किया है, कि अब लफ़्ज़ लखनवी अपने नाम के साथ लिखते हुए, शर्म आती है । ऐसे ऐसे बुजुर्ग़ लखनवी लिखते हैं, जिनकी सात पुस्तें देहात में गुज़र गईं । खुद लखनऊ में चंद रोज़, तालिब इल्मी या और किसी सिलसिले में आ कर

रहे, चलिये अच्छे खासे लखनवी बन गये । अगरचें कुछ ऐसी फ़दर की बात नहीं, मगर झूठ से क्या फ़ायदा ?'

उमराव जान : 'जी हाँ, अक्सर साहब इसी तरह लखनऊ फ़रोशी करके अपना भला करते हैं । कानपुर में मेरा भी ठीक यही हाल था । उस ज़माना में रेल तो न थी, और न लखनऊ से कोई बाहर जाता था । बल्कि शहर के क़ाबिल आदमी रोज़ी की तलाश में यहीं आते थे । अपने कमाल की, हसब हैसियत दाद पाते थे । देहली उजड़ के लखनऊ आबाद हुआ था ।'

रसवा : 'फ़ी ज़माना यही हाल दक्कन का है । लखनऊ उजड़ के दक्कन आबाद हुआ है । मैं तो गया नहीं, मगर मुहल्ले के मुहल्ले लखनऊ वालों से आवाद हैं ।'

उमराव जान : 'जो लोग लखनवी होने का दावा करते हैं, उनसे कदिये पहले अपनी ज़बान की मोच निकालें ।'

रसवा : 'क्या ख़ूब बात कही है । वाक़ई, रोज़मर्रा तो किसी क़दर आ-
भी जाता है, मगर लहज़ा नहीं आता ।'

पन्द्रह

इतिफाकाते जमाना से यह कुछ दूर नहीं,
यूँ भी होता है कि बिछड़े हुए मिल जाते हैं।

बिछड़े हुए मिल जाते हैं, और फिर कब के बिछड़े हुए। वह, जिनके मिलने का सान-गुमान भी न हो। एक दिन का वाक्या मुनिये। कानपुर में रहते हुए कोई छः महीने गुजर गये हैं। अब शोहरत की यह हद पहुँची है, कि वाजारों और गलियों में, मेरी गाई हुई गजलों, लोग गाते फिरते हैं। शाम को मेरे कमरे में बहुत अच्छा मजमा रहता है। गमियों का दिन है, कोई दो बजे का वक्त होगा, मैं अपने पलंग पर अकेली लेटी हूँ। मामा, बाबरचीखाने में खरौंटे ले रही है। एक खिदमदगार कमरे के वहर बैठा, पंखे की डोरी खींच रहा है। खस की टट्टियाँ खुदक हो गई हैं। मैं आदमी को यावाज दिया ही चाहती थी, कि पानी छिड़क दे, कि इतने में कमरे के नीचे किसी ने आकर पूछा, 'लकनऊ से जो रंडी आई है उसका कमरा यही है?' दुर्गा बनिये ने, जिसकी दुकान नीचे थी, जवाब दिया, 'हाँ यही है।' फिर दरयाफ्त किया, 'दरवाजा कहाँ है?' उसने बता दिया। थोड़ी देर बाद, एक बड़ी बी, कोई सत्तर वरस का सिन, गोरी सी, मुँह पर झुर्रियाँ पड़ी हुईं, बाल जैसे रूई का गाला, कमर झुकी हुई, सफेद मलमल का दोपट्टा, तन्जेब का कुर्ता, नैनसुख का पाजामा बड़े बड़े पायचों का पहने, हाथों में चाँदी के मोटे मोटे कड़े, उँगलियों में अँगूठियाँ, जरीब हाथ में, हाँपती काँपती हुई आई और सामने फर्श पर बैठ गई। एक काला सा

लड़का, कोई दस बारह बरस का, उनके साथ था। वह खड़ा रहा।

बड़ी बी : 'लखनऊ से तुम आई हो ?'

मैं : 'जी हाँ।'

इतना कह के मैं पलंग के नीचे उतर आई। पानदान आगे खिसकाया। आदमी को हुक्के के लिये आवाज दी।

बड़ी बी : 'हमारी बेगम ने तुम्हें याद किया है। लड़के की सालगिरह है। जताना जलसा होगा। तुम्हारा मुजरा क्या है ?'

मैं : 'बेगम साहवा मुझ को क्या जानें ?'

बड़ी बी : 'ए तमाम शहर में तुम्हारे गाने की धूम है। दूसरे, तुम्हारे बुलाने का यह भी एक सबब है, कि बेगम साहवा खुद भी लखनऊ की रहने वाली हैं।'

मैं : 'और आप भी तो लखनऊ की हैं ?'

बड़ी बी : 'तुमने क्योंकर जाना ?'

मैं : 'कहीं बातचीत का क़रीना छिपा रहता है।'

बड़ी बी : 'हाँ ! मैं भी वहीं की रहने वाली हूँ। अच्छा, अपना मुजरा तो बताओ, अभी बहुत काम पड़ा है। मुझे देर होती है।'

मैं : 'मुजरा तो मेरा खुला हुआ है। सब जानते हैं। पचास रुपया लेती हूँ। मगर बेगम साहवा लखनऊ की रहने वाली हैं, और उन्होंने क़दर कर के बुलाया है, तो उन से कुछ न लूँगी। जलसा कब है ?'

बड़ी बी : 'आज शाम को। अच्छा तो यह रुपया खिचड़ी का तो ले लो, बाक़ी वहाँ आ के समझ लेना।'

मैं (रुपया ले लिया) : 'इसकी कोई ज़रूरत न थी, मगर इस ख़याल से कि बेगम साहवा बुरा न मानें, रुपया लिये लेती हूँ। अच्छा, अब यह कहिये कि मकान कहाँ है ?'

बड़ी बी : 'मकान तो ज़रा दूर है। तवाब गंज में है। यह लड़का शाम को आयेगा, इसी के साथ चली आना। मगर इतना ख़याल रहे, कि कोई मर्द ज़ात, तुम्हारे मिलने वालों में से, तुम्हारे साथ न हो।'

मैं : 'और साजिन्दे ?'

बड़ी बी : 'साजिन्दे, खिदमतगार, इतकी मनाही नहीं है। कोई और न हो।'

मैं : 'नहीं, यहाँ मेरा कौन सा मुलाकाती है, जिसे साथ लाऊँगी। खातिर जमा रखिये।'

इतने में खिदमतगार ने हुक्का तैयार किया। मैंने इशारा किया, बड़ी बी के सामने लगा दो। बड़ी बी, मजे ले ले के हुक्का पीने लगीं। मैं एक पान पर कत्था चुन लगा के, डलियों का चूरा डिविया में पड़ा हुआ था, एक चुटकी उसकी और इलाईची के दाने पानदान के ढकनों पर कुचल के, गिलौरी बना के, बड़ी बी को देने लगी।

बड़ी बी : 'हाय वेटा ! दाँत कहाँ से लाऊँ, जो पान खाऊँ ?'

मैं : 'आप खाईये तो। मैंने आप ही के लायक पान बनाया है। बड़ी बी बैठ गई', पान ले के खाया। बहुत ही खुश हुई। 'हाय, हमारे शहर की तमीज़दारी।' इतना कह के, दुआएँ बेती हुई, रुखसत हुई। चलते चलते कह गई, 'ज़रा दिन से आ जाना, घड़ी भर दिन रहे गिरह लगाई जायेगी।'

मैं : 'अगर्चे मुजरे का दस्तूर नहीं। मगर खैर, बेगम साहवा ने याद किया है, तो मैं सबेरे से हाज़िर होके मुवारिक़वाद गाऊँगी।'

वाकई, बतन की कदर बाहर जा के होती है। कानपुर में सैकड़ों जगह मुजरे हुए, मगर कहीं जाने की ऐसी इच्छा अब तक न हुई थी। जी चाहता था, जल्दी से शाम हो जाये और मैं रवाना हूँ। गर्मियों का दिन, पहाड़ होता है। खुदा खुदा करके इतना दिन कटा। पाँच बजते, लड़का आ मौजूद हुआ। मैं पहले ही से बत्ती ठनी बैठी थी। साजिन्दों को बुलवा रखा था। लड़के ने, उनके मकान का पता बता दिया। मैं सवार हो के रवाना हो गई।

बेगम का मकान बाहर से कोई घण्टा भर का रास्ता था। छः बजे, मैं वहाँ पहुँची। नहर के किनारे एक बाग़ था, जिसके चारों तरफ़ मींड पर नागफनी और दूसरे काँटेदार दरख्त इस तरह बराबर बिठाये गये थे, जिससे

एक दीवार सी बन गई थी। बाग की कतार बिल्कुल अंग्रेजी थी। ताड़, खजूर और तरह-तरह के खूबसूरत दरख्त कैरीने से लगाये गये थे। रविशों पर सुखी कुटी हुई थी। चारों तरफ सव्जा था। जा बजा कंकरो की पहाड़ियाँ सी बनी हुई थीं। इन पर अनवा-ओ-यकसाम के पहाड़ी दरखत, पत्थरों के अन्दर से उगे हुए मालूम होते थे। पहाड़ियों के गिर्दा गिर्दा, बूब जमाई गई थी। बाग में चारों तरफ पक्के बरहे बने हुए थे। इनमें साफ मोती सा पानी बह रहा था। माली, नलों और फव्वारों के जरिये से पानी दे रहे थे। पत्तियों से पानी टपक रहा था। दिन भर की धूप खाये हुए फूलों में, जो अब पानी पहुँचा था, कैसे तरोताजा और शादाब थे।

साल गिरह की रस्म कोठी में अदा हुई थी। औरतों के गाने की आवाज आई। बाहर मैंने मुबारिकबाद गाई। फिर आप ही आप, शाम कल्याण की एक चीज शुरू कर दी। कोई सुनने वाला न था, आप ही आप गायी की। फिर चुप हो रही। बेगम साहना ने एक अशरफी और पाँव तपया इनाम के भेजे। थोड़ी देर में शाम हो गई, चाँद निकल आया। चाँदनी फैल गई। तालाब के पानी में, चाँद की परछाई लहरों से हिलकर अजब तैफियत दिखा रही थी।

बाग के किनारे पर, एक बहुत आलीशान कोठी थी। बीच बाग में, एक पुराना तालाब बना हुआ था। इसके गिर्दे, विलायती फूलों के नौदे, निहायत खूबसूरती से सजे हुए थे। इसी तालाब से मिला हुआ, एक ऊँचा चबूतरा था। इसके दरम्यान, एक मुहत्तर सा हवादार चोरी बँगला था। इसके स्तनों पर रंग ग्रामेजी की हुई थी। इस तालाब में नहर से पानी गिरता था। पानी के गिरने की आवाज से दिल में ठंडक पहुँचती थी। वाकई, अजीब आलम था। शाम का सुहाना वक़्त, सुथरी हवा, रंग-रंग के फूलों में महक। ऐसी फ़िजा, मैंने कभी न देखी थी। चबूतरे पर सफ़ेद चाँदनी का फ़र्श था। मसनद, तकिया लगा हुआ था। इसी के सामने, हम लोग बिठाये गये। कोठी से लेकर इस चबूतरे तक, गुलाब की बेलों से एक छत्ता सा बना हुआ था। मालूम हुआ, कि इसी राह से बेगम साहबा तशरीफ़ लाती हैं। सामने चिलमन

पड़ी हुई थी। चबूतरे पर सब्ज मृदंगें रौशन हो गईं। मुझे गाने का हुक्म हुआ। मैंने केदारे की एक चीज शुरू कर दी। बड़ी देर तक गाया की। इतने में, एक महरी, हाथों में दो सब्ज कैंबल लिये हुए, बाहर निकली। मसनद के सामने रख दिये। साजिन्दों से कहा, 'तुम लोग वहाँ सामने शागिर्द पेशा में चले जाओ। खाना भेज दिया जायेगा। अब यहाँ जनाना होगा।' जब वह लोग उठ गये, वेगम साहबा बरामद हुईं। मैं ताजीम के लिये उठ खड़ी हुई। उन्होंने मुझको करीब बुलाया, खुद मसनद पर बैठ गईं। मुझे सामने बैठने का इशारा किया। मैं तस्लीम करके बैठ गई। गाने के लिये हुक्म की मुन्तज़ार थी, और वेगम की मूरत गौर से देख रही थी।

हैरानि ए-निगाह तमाशा करे कोई,

सूरत वह खबरू है कि देखा करे कोई।

पहले तो वह बाग और वहाँ की फ़िजा देख के, मुझे परिस्थान का शुबहा हुआ था। मगर अब यकीन हो गया, कि परी मेरे सामने गाव तकिया से लगी बंटी है। माँग निकली हुई है, चोटी कमर तक पड़ी हुई। सुर्-सफ़ेद माँथा, खिची हुई भवें, बड़ी बड़ी आँखें जैसे गुलाब की पत्तियाँ, लमछोई नाक, छोटा सा दहाना, पतले-पतले नाजुक होंठ। नज़्शे भर में, कोई चीज ऐसी नहीं, जिससे बेहतर मेरे खयाल में कोई चीज आ सकती हो। इस पर जिम्म का उभार किस क़दर खुशनुमा था। सैंकड़ों औरतें मेरी नज़र से गुज़र गईं, मगर मैंने इस बला की सूरत न दे ली थी। खुरशीद से बहुत कुछ मिलती थी। मगर कहाँ खुरशीद, कहाँ वह। खुरशीद की सूरत में फिर इमनीपन था। इसमें यह अमीराना रौब, यह तमकनत, यह भारी भरकमपन। दूसरे खुरशीद, इनके सामने किसी क़दर भद्दी मालूम होती थी। इनका कामिनी सा नाजुक नाजुक छरहरा बदन, उसने कहाँ पाया। दूसरे उसकी सूरत पर आठों पहर उदासी बरसती थी। जब देखो विरोगन बनी थी। वेगम साहबा, बहुत ही खुश मिज़ाज मालूम होती हैं। बात करती हैं, गोया मुँह से फूल झड़ते हैं। हर बात पर खुद-ब-खुद हँस देती हैं, मगर किसी को मजाले-क़लाम नहीं। वाक़ई, सादगी में तकल्लुफ़ और तमकनत के साथ शोखी, इन्हीं में देखी।

दीलत मंदों की खुशामद सब करते हैं; मगर मैं, औरत जात होके कहती हूँ, कि रईसों की खुशामद भी अगर वे सरज की जाये, तो कोई ऐव नहीं। लिवास और जेवर भी इसी सूरत के लायक था। महीन, बसंती दोपट्टा कंधों से ढलका हुआ, केचुली का शलूका फँसा-फँसा, सुखं गरट का पाजामा, कानों में सिर्फ याकूत के बुन्दे, नाक में हीरे की कील, गले में सोने का सादा तौक, हाथ में सोने की सुमरनें, बाजूओं पर नौ रतन, पाँव में सोने के पाजेब। चेहरे की खूबसूरती, लिवास की सादगी और जेवर की मुनासबत, यह सब चीजें मेरी, आँखों के सामने थीं और मैं हैरान बनी बैठी थी। वग़ैर सूरत देख रही थी, और मेरी सूरत तो जैसी कुछ है, वह इस वक़्त आपके सामने है। मगर यकीन ही कीजियेगा, उनकी तबज़ेह भी किसी और तरफ़ न थी, मुझी को देख रही थीं। दोनों तरफ़ से निगाहें लड़ी हुई थीं। मेरे दिल में बार-बार एक ख़याल आता था, मगर इसके इज़हार का मौक़ा न था, कहूँ तो क्योंकर कहूँ? एक महरी पीछे खड़ी पंखा भल रही थी, दो सामने खड़ी थीं। एक के हाथ में चाँदी की लुटिया, दूसरी के पास खासदान। बड़ी देर तक न बेगम साहबा ने मुझसे कुछ बातचीत की, और न मैं कुछ बोल सकी। आखिर उन्होंने सिलसिला क़लाम इस तरह शुरू किया।

बेगम : 'तुम्हारा क्या नाम है?'

मैं (हाथ बाँध के) : 'उमराव जान।'

बेगम : 'खास लखनऊ में मकान है?'

यह सवाल, कुछ इस तरह से किया गया था, कि मुझे जवाब देना मुश्किल हो गया। खसूसन इस मौक़ा पर। इसलिये, कि अगर कहती हूँ, कि लखनऊ में मेरा मकान है, तो एक मतलब जो मेरे दिल में था, फ़ौत हो जाता। फ़ौज़ाबाद बताती हूँ, तो राज़ फ़ाश होने का ख़याल है। आखिर बहुत सोच समझ के मैंने कहा, 'जी हाँ, परवरिश तो लखनऊ में पाई है।'

जवाब देने को तो दे दिया। मगर इसके साथ ही ख़याल हुआ, कि अब जो सवाल किया जायेगा, तो फिर वही दिक्कत पेश आयेगी। मेरा ख़याल शलत न था। इसलिये, कि फ़ौरन बेगम साहबा ने पूछा,

बेगम : 'तो क्या पैदाइश लखनऊ की नहीं ?'

अब हैरान हूँ कि क्या जवाब दूँ। थोड़ी देर सकून किया, जैसे मैंने कुछ सुना ही न था। आखिर इस बात को टाल के, पूछ बैठी।

मैं : 'हुजूर का दौलतखाना लखनऊ में है ?'

बेगम : 'कभी लखनऊ में था। अब तो कानपुर वतन हो गया।'

मैं : 'मेरा भी यही इरादा है।'

बेगम : 'क्यों ?'

इस सवाल का जवाब देना भी दुशवार था, कौन किससा बयान करता।

मैं : 'अब क्या अर्षा कहूँ। बेकार कानों को बुरा लगेगा, न कहना ही अच्छा है। कुछ ऐसे ही इतिफाकात पेश आये, कि लखनऊ जाने को जी नहीं चाहता।'

बेगम : 'चलो अच्छा है, तो हमारे पास भी कभी-कभी चली आया करो।'

मैं : 'आना कैसा। मेरा तो अभी से जाने को जी नहीं चाहता। अब्बल तो आपकी कदरदानी, दूसरे यह बाग, यह फ़िज़ा। मुमकिन है कि कोई एक बार देखे और दोबारा देखने की चाह न हो। ख़सूसन, मुझ ऐसी मिज़ाज की औरत के लिये तो यहाँ की आबोहवा अक्सीर का असर रखती है।'

बेगम : 'ए है, तुम्हें यह जंगला बहुत पसन्द आया, न आदमी न आदम ज़ात, हैयात खुदा की ज़ात। बाहर से कोसों दूर। चार पैसों का सौदा मँगाओ, तो आदमी भुबह का गया शाम को आता है। छायें पोयें शैतान के कान बहरे। कोई बीमार हो, तो जब तक हकीम साहब शहर से आयें, यहाँ आदमी का काम तमाम हो जाये।'

मैं : 'हुजूर अपनी-अपनी तबीयत। मुझे तो पसन्द है। मैं तो जानती हूँ कि अगर यहाँ रहूँ, तो मुझे किसी चीज़ की ज़रूरत ही न हो। दूसरे ऐसे मुकाम पर बीमार होना क्या ज़रूर है ?'

बेगम : 'जब मैं पहले-पहल आई थी, तो मेरा भी यही ख़याल था। कुछ दिनों यहाँ रह के मालूम हुआ, कि शहर के रहने वाले ऐसे मुकाम पर नहीं रह

सकते। शहर में हजार तरह का आराम है। और सब बातों को जाने दो, जब से नवाब कलकत्ता गये हैं, रातों को डर के मारे नींद नहीं आती। यूँ तो खुदा के दिये सिपाही, पासी, खिदमतगार इस वक्त भी दस बारह नौकर हैं, औरतों की गिनती नहीं, मगर फिर भी डर लगता है। मैं दो चार दिन और राह देखती हूँ, अगर नवाब जल्दी न आये तो मैं शहर में कोई मकान ले के जा रहूँगी।'

मैं : 'कुसूर मुआफ़, आपका मिज़ाज वहमी है। ऐसे-ऐसे विश्वास विल में न लाया कीजिये। शहर में जाईयेगा, तो कदरे-आफ़ियत खुलेगी। वह गर्मी है, कि आदमी बिकसे जाते हैं। दूसरे बीमारियाँ, कि खुदा पनाह में रखे।'

यह बातें हो ही रही थीं, कि इतने में दाई वच्चे को ले के आई। तीन बरस का लड़का था, माशा अला गोग-गोरा, खूबसूरत। ऐसी प्यारी-प्यारी बातें करता था, जैसे मैंना। बेगम ने दाई से ले के, गोद में बिठा लिया। थोड़ी देर, थिला कुदा के फिर दाई को देने लगीं, कि मैंने हाथ बड़ा के ले लिया। बड़ी देर तक लिये रही और प्यार किया की। फिर दाई को दे दिया।

मैं : 'यूँ तो शायद न आती, मगर मियाँ को देखने तो जरूरी ही आऊँगी।'

बेगम (मुस्करा के) : 'अच्छा किसी तरह हो, आना जरूर।'

मैं : 'जरूर-जरूर हाज़िर हूँगी। यह आप बार-बार क्यों फ़रमाती हैं। मैं तो इस कदर हाज़िर हूँगी, कि हुज़ूर को दूभर हो जाऊँगी।'

इसके बाद इधर उधर की बातें होने लगीं। बेगम ने मेरे गाने की बहुत तारीफ़ की। इसी अस्नान में खासा वाली ने आ के कहा, कि खासा तैयार है। बेगम ने कहा : 'चलो खाना तो खा लो।'

मैं : 'बहुत ख़ुब।'

बेगम मस द से उठ खड़ी हुई। मैं भी साथ ही उठी। मेरा हाथ पकड़ लिया। महारियों को इशारा किया, तुम यहीं ठहरो, हम खाना खा के यहीं बैठेंगे।

मैं : 'वाक़ई, इस वक्त का सम्राँ तो ऐसा है, कि जाने को जी नहीं चाहता।

मगर हुक्मे हाकिम ।'

बेगम : 'तो क्या खाना यहीं मँगवा लिया जाये ?'

मैं : 'जी नहीं । अच्छा, खाना खा के चले आयेंगे ।'

बेगम (एक महरी से) : 'इनके साथ के आदमियों को खाना दिला दिया गया ?'

महरी (हाथ बाँध के) : 'हुजूर दिला दिया गया ।'

बेगम : 'अच्छा, उन्हें रखसत करो । हमने दूसरा मुजरा मुआफ़ किया । उमराव जान, खाना खा के जावेंगी ।'

इसके बाद बेगम और मैं, दोनों कोठी की तरफ़ चले । एक महरी आगे-आगे फ़ानूस लिये जाती थी, चुपके से मेरे कान में कहा, 'मुझको तुमसे बहुत सी बातें करना हैं, मगर आज इसका मौक़ा नहीं । कल तो मुझे फ़ुर्सत न होगी । परसों तुम सुबह आना और खाना यहीं खाना ।'

मैं : 'मुझे भी कुछ अर्ज करना है ।'

बेगम : 'तो अच्छा, आज कुछ न कहो । चलो खाना खा लें, इसके बाद तुम्हारा गाना सुनूँगे ।'

मैं : 'फिर साजिन्दों को तो हुजूर ने रखसत कर दिया ।'

बेगम : 'हमको मदों के साथ गाना अच्छा नहीं मालूम होता । मेरी एक ख़वास, ख़ूब तबला बजाती है, उस पर गाना ।'

मैं : 'बहुत ख़ूब ।'

अब हम कोठी के पास पहुँच गये । बहुत बड़ी कोठी थी और इस तरह सजी हुई थी, कि शाही कोठियों के देखने के बाद, अगर कोई कोठी देखी तो यही देखी । पहले बरामदा मिला । इसके बाद कई कमरों से होके गुजरे । हर एक, नये तर्ज से सजा हुआ था । हर कमरा, फ़र्श फ़र्श और शीशा आलात एक नये रंग और नये तर्ज का था । आखिर हम उस कमरे में पहुँचे, जहाँ दस्तरख़वान चुना हुआ था । दस्तरख़वान पर दो औरतें और भी मुन्तज़र थीं । इनमें से एक चिट्ठी नबीस थी । सूरतें भी अच्छी थीं ।

दस्तरख़वान पर कई किस्म के खाने, पुलाव, बिरयानी, मुतंजन, सफ़ेदा,

वाकर खानियों, कई तरह के सालन, कवाव, अचार, मुरब्बे, मिठाइयाँ, दही, वाताई, गरजेकि हर क्रिस्म की नेमत मौजूद थी। लसनऊ से निकलने के बाद आज खाने का मजा आया। बेगम, हर तरह की चीजें मेरे सामने रखती जाती थीं। मैं अगर्चे किसी कदर तकलुफ़ से खाना खाती थी, मगर इनके इसरार ने ज़रूरत से ज्यादा झिला दिया।

बेगम दानी और तसला आया। हाथ मुँह थो के सबने पान खाये। फिर उसी चबूतरे पर जलसा जमा। इस जलमा में सिर्फ़ बेगम साहवा ही न थीं, चिट्ठी नवीस, मुसाहबीन, मुगलानियाँ, पेज ग़िदमतें, महूरियाँ, मामागें सब मिला के कोई दस बारह औरतें थीं।

बेगम साहवा ने हुकम दिया, कि तबला की जोड़ी और सितार उठा लाओ। एक मुसाहबि जो तबला बजाने में मशग़क थी, तबला बजाने लगी। खुद बेगम साहवा, सितार छेड़ने लगीं। मुझे गाने का हुकम दिया।

खाते-खाते दस ग्यारह वज चुके थे। जब हम गाने को बँटे हैं, ठीक बारह वजे का वक़्त था। हम वक़्त बह बाग़, जिसमें बहुत सा रुपया खर्च करके जंगल और पहाड़ की घाटियों के नमूने बनाये गये थे, अजब बहशतनाक समौ दिखा रहा था। एक तरफ़, चाँद इस आलीशान कोठी के एक गोशे से थोड़ी दूर पर, गुप्तान दरख्तों की शाखों से नज़र आता था। मगर अब हूवने ही को था। तारीक़ी रौशनी पर छाई जाती थी, जिससे हर चीज़ भयानक मालूम होने लगी। दरख़्त जितने ऊँचे थे, उससे कहीं बड़े नज़र आते थे। हवा सन-सत चल रही थी। सर्व के दरख़्त साँप-साँप कर रहे थे। और तो हर तरफ़ ख़ामोशी का आलम था, मगर तालाब में पानी गिरने की आवाज़ बुलन्द हो गई थी। कभी-कभी कोई परिन्दा अपने-अपने आशियाने में चँक कर, एक बाँग धोल देता था, या शिकारी जानवरों के हौल से जो चिड़ियाँ उड़ती थीं, उससे पत्ते खड़क जाते थे, या कभी कोई मछली तालाब में उछल पड़ती थी। मेंढक अपना बेतुका राग गा रहे थे। झींगर आस दे रहे थे। सिवाय इस चबूतरे के, जहाँ दस बारह जवान-जवान औरतें, रंग-रंग के लिबास पहने और तरह-तरह के ज़ेवर से आरास्ता, जलसा जमाये बैठी थीं, और कोई आस पास

न था। हवा के झोंकों से कँवल बुझ गये थे। सिर्फ़ दो मृदंगों की रौशनी थी। इनके भी शीशे सव्ज़। या तारों का अक्स जो तालाब के पानी में हलकारे ले रहा था। हर तरफ़ अँधेरा था। तिलिस्माँल का आलम था। वक़्त और मुक़ाम की मुतासिलत से, मैंने सोहनी की एक चीज़ शुरू कर दी। इस रागनी के भयानक सुरों ने, दिल पर अपना ग़ुरा अमर किया था। सब दम साधे बैठे थे।

मारे ख़ौफ़ के बाग़ की तरफ़ देखा न जाता था। ख़ामकर गुलाब दरख़तों के नीचे अँधेरा घुप हो गया था। सब एक दूसरे की सूरत देख रहे थे। गोया वह जनसा, अमन की जगह थी और जिधर मुँह उठा के देखो एक दू का आलम था। औरों का ज़िक्र क्या, खुद मेरा कलेजा धड़क रहा था। दिल ही दिल में कहती थी, बेगम ने सच कहा था। बेशक यह जगह रहने के लायक़ नहीं है। इस अस्ता में गीदड़ के बोलने की आवाज़ आई। उसने और भी दिलों को हिला दिया। इसके बाद कुत्ते भीकने लगे। अब तो मारे दहशत के यह हाल था, कि किसी के मुँह से बात नहीं निकलती थी। इतने में बेगम ने गाव तकिया से ज़रा ऊँची हो के अपने सामने कुछ देखा, और जोर से एक चीख़ मार के ग़सनद पर गिर पड़ी। और सब औरतें भी उसी तरफ़ देखने लगीं। मैं भी मुड़ के देखने लगी।

बेगम साहवा को मैं समझ चुकी थी, कि वहमी हैं। मगर अन्न जो देखती हैं, तो उनके वहम की हकीकत नज़र आने लगी। सामने से दस वारह आदमी मुँह पर ठाठे बाँधे, नंगी तलवारें हाथ में लिये दौड़ते चले आते हैं। औरतों के ख़िल्लाने से बेगम के नौकर चाकर, खिदमतगार, सब इस तरफ़ को चले। कोई निहत्था, किसी के हाथ में लाठी। मगर डाकू ज़्यादा थे और यहाँ आदमी कम थे। कोई तो रास्ते से फ़रार हो गये। पाँच चार आदमी चबूतरे तक पहुँच ही गये। इन्होंने आकर औरतों को जीच में कर लिया और लड़ने मरने पर आमादा होके खड़े हो गये। औरतों में से किसी को होश न था। सब ग़श की हालत में बेदम पड़ी थीं। एक मैं, खुदा जाने क्या पत्थर का दिल था, कि बैठी रही। मारे हौल के दम निकला जाता था। या अल्लाह, देखिये

क्या होता है ।

बेगम के आदमियों में से जिनके पास हथियार थे, वह आगे बढ़ने ही को थे, कि सरफ़राज़ नामी एक सिपाही ने रोका ।

सरफ़राज़ (अपने साथियों से) : 'ठहरो, अभी जल्दी न करो । पहले हमें इन लोगों का इरादा मालूम कर लेने दो ।' (डाकुओं से) 'तुम लोग किस इरादे से आये हो ?'

एक डाकू : 'जिस इरादे से आये हैं, तुम्हें अभी मालूम हो जायेगा ।'

सरफ़राज़ : 'यही मैं पूछता चाहता हूँ । जान चाहते हो या माल ?'

दूसरा डाकू : 'हमें जान से कोई सारज़ नहीं । कोई बाप मारे का बैर है ? हाँ, जिस इरादे से आये हैं, उसमें रूकावट डालोगे तो देखा जायगा ।'

सरफ़राज़ (किसी क्रूर सख्त होके) : 'तो क्या बहू बेटियों की आबरू लोंगे ? अगर यह मक़सद हो तो..... ।'

सरफ़राज़ पूरी बात भी खत्म न करने पाया था, कि किसी ने डाकुओं की तरफ़ से कहा, 'न साहब, किसी की बहू बेटियों से क्या वास्ता ? हमारे बहू बेटियाँ नहीं हैं ? औरतों के कोई हाथ लगा सकता है ?'

इस आवाज़ पर मुझे कुछ बुवहा सा हुआ ।

सरफ़राज़ (खुश होके) : 'तो फिर यही तो मैं पूछता हूँ । अच्छा तो भाइयो, हम अभी तुम्हें कमरों की कुन्जियाँ मँगाये देते हैं, और जो औरतें वहाँ हैं उनको यहाँ बुलवाये लेते हैं । घर की मालिक बेगम यहाँ हैं । तुम शौक्र से कोठी में जाओ, और जो जी चाहे, उठा ले जाओ । रहा औरतों का जेवर, वह भी अभी उतरवा देते हैं । हमारा मालिक, इससे कुछ ग़रीब न हो जायेगा । खुदा के हुक्म से, लाखों रुपया बैंक घर में जमा है । इलाका से जो रुपया आता है, उसका जिक्र नहीं ।'

डाकू : 'इस से हमें क्या है ? मगर देखो इसमें दगा न हो ।'

सरफ़राज़ : 'सिपाही के पूत दगा नहीं देते । खातिर जमा रखो ।'

वही डाकू जिसकी आवाज़ मैंने पहचानी थी, आगे बढ़ा ।

डाकू : 'बाहू क्या कहना, मर्दों का कौल ही तो है । अच्छा, कुन्जियाँ ? इतना

कहता था, कि मेरे उसके आँखें चार हुईं। मैंने तो पहिचान लिया, बोलने का क्रसद किया मगर दिल में ऐसी दहशत समाई हुई थी, कि मुँह से आवाज न निकलती थी। इतने में खुद उसने आगे बढ़के कहा,

‘भाभी ! तुम यहाँ कहाँ ?’

मैं : ‘जब से तुम्हारे भाई क़ैद हो गये, यही हूँ।’

फ़ज़ल अली : ‘यहाँ किसके पास ?’

मैं : ‘रहती तो शहर में हूँ, मगर यहाँ मेरी एक बहन, बेगम साहब के पास नौकर हैं, उनसे मिलने आई थी।’

फ़ज़ल अली : ‘तुम्हारी बहन कहाँ है ?’

मैं : ‘यहीं हूँ। जब से तुम लोगों के आने का हूँगामा हुआ, बेचारी राश में पड़ी हैं। मेरी तरह तो हैं नहीं। बेचारी परदा नशीं हैं। जवानी में राँड हुई। जब से अमीर रईसों की नौकरियाँ करती फिरती हैं।’

फ़ज़ल अली (अपने साथियों से) : ‘यहाँ से एक पैसा की चीज़ लेना भी मेरे लिये हराम है और न इस मुआमला में, मैं तुम्हारे साथ हूँ।’

एक डाकू : ‘यह क्या ? फिर आये क्यों थे ?’

फ़ज़ल अली : ‘जिस इरादे से आये, तुम्हें मालूम है। मगर किसी का कुछ ख्याल भी है ? मुझ से तो नहीं हो सकता, कि फ़ज़ू भैया की आशाना और उसकी बहन का असबाब बूढ़ या जिस सरकार से उनको रोज़ी मिले, वहाँ दस्त बराजी करूँ। अगर वह क़ैद में सुनेगा, तो क्या कहेगा ?’

इस बात पर डाकुओं का आपस में बहुत झगड़ा होने लगा। मगर सब फ़ज़ल अली का दबाव मानते थे, कोई दम न मार सकता था। फिर भी खाली हाथ जाना, कुछ ऐसी सहल बात न थी। सब डाकू गुल मचाते थे, ‘फ़ाकों मरते हैं। एक मौक़ा मिला भी, तो उसे खान साहब छोड़ देते हैं। आखिर, पेट कहाँ से पालें ?’

जब फ़ज़ल अली अपने गिरोह से निकल के अलग खड़े हुए तो उनके साथ ही साथ एक स्याह फ़ाम शस्त्र यह कहता हुआ निकला, ‘खाँ साहब ! मैं भी तुम्हारे साथ हूँ।’

गौर से जो देखती हूँ, मालूम हुआ कि फ्रैंज़गली का साईस है। मैंने उसे बुलाया, अलग ले जा के बानें कीं। वह अशरफ़ी और रुपया जो वेगम साहब ने इनाम दिये थे, चुपके से उसे दे दिये।

फ़ज़ल अली (सरफ़राज़ खाँ से) : 'भाई, मैं तुम्हारे साथ हूँ, अब तुम जानो और यह लोग।'।

सरफ़राज़ : 'मैं इन लोगों को अभी राजी किये देता हूँ, मगर यहाँ से चलो। औरतें परेशान हो रही हैं। सरकार ग़श में पड़ी हैं। ज़रा इनको होश में आने दो, हम तुम लोगों को खुश कर देंगे।'।

डाकू वहाँ से चले गये। वेगम साहब, अभी तक बेहोश पड़ी थीं। दाँत बैठ गये थे। मैं तालाब से हाथ में पानी लाई। इनके मुँह पर छीटे दिये। बड़ी मुश्किल से होश में आईं। मैंने कहा सँभल के बैठिये। खुदा के सदक़े से वह आफ़त टल गई, खातिर जमा रखिये। और औरतों को भी पानी छिड़क कर उठाया। सब उठ-उठ के बैठों। जब इतमीनान हो गया तो मैंने कुल क्रिस्ता बयान किया। वेगम साहब बहुत खुश हुईं। सरफ़राज़ खाँ को बुला भेजा।

सरफ़राज़ : 'सरकार कुछ दे दीजिये। वरौर इसके काम न चलेगा। इस इस वक़्त उमराव जान यहाँ न होगी, न आफ़त टलती।'।

मैंने इस बात का जवाब कुछ न दिया। इसलिये, कि मैं समझ गई कि इस वक़्त यह राज़ की बात इनके मुँह से निकल गई है। इस मौक़ा पर ऐसी बातों का इजहार इनकी शान के खिलाफ़ है।

मैं : 'जी नहीं, मैंने क्या किया, यह भी इत्तिफ़ाक़ था।'।

मुल्तसर यह कि वेगम ने सन्दूकचा मँगवाया। पाँच सौ तक़द और पाँच सौ का सोने चाँदी का ज़ेवर देकर उन्हें डाला। सब की जान में जान आई। वेगम साहब का उस वक़्त का कहना मुझे आज तक याद है।

वेगम : 'क्यों, उमराव जान ! बाश में रहने का मज़ा देखा ?'

मैं : 'हुज़ूर, सच कहती थीं।'।

अब सुबह के तीन बज गये थे। सब लोग उठ उठ के कोठी में गये। इन लोगों के साथ, मैं भी उठी। कोठी के बरामदे में एक पलंग मेरे लिये बिछवा

दिया गया। नींद किसे आती है, रात भर जागी रही। सुबह होते सब सो गये, मेरी भी आँख लग गई। अभी नींद भर के सोने भी न पाई थी, कि मेरे खिदमतगार सवारी ले के आ गये, मुझे जगवाया। मैं आँखें मलती हुई, बाहर गई।

खिदमतगार : 'आप तो खूब यहाँ आईं। रात भर हम लोग राह देखा किये।'।

मैं : 'क्योंकर आती। सवारी को तो रखसत कर दिया था।'।

खिदमतगार : 'अच्छा तो अब चलिये, लखनऊ से लोग आपके पास आये हैं।'।

मैं समझ गई, हों न हों, गौहर भिर्जा और बुआ हुसैनी होंगे। आखिर पता लगा लिया ना।'।

मैं : 'अच्छा चलती हूँ। सवारी लाये हो?'

खिदमतगार : 'हाज़िर है।'।

जब मैंने जाने का कसद किया, दो एक औरतें और जग चुकी थीं।'। मुझको रोका कि बेगम साहबा से मिल के जाइयेगा। मैंने कहा, 'इस वक़्त काम है। बेगम साहबा, खुदा जाने, कब सो के उठेंगी। ऐसा ही है तो फिर झूठ'गी।'।

सौलह

दशते जनों की सैर में बहला हुआ था दिल,

जिन्दा में लाये फिर मुझे अहवाल घर के।

घर पर जो आ के देखती हूँ, बुआ हुसैनी और मियाँ गौहर मिर्जा बैठे हुए हैं। बुआ हुसैनी मेरे गले से लिपट गई, रोने लगी। मैं भी रोने लगी।

बुआ हुसैनी : 'अल्ला बेटी ! क्या सख्त दिल कर लिया। तुम्हें किसी की मुहब्बत ही नहीं ?'

मैं वजायेखुद शर्मिन्दा थी। जवाब क्या देती ? झूठ मूठ रोने लगी।

मामूली गुप्तशू के बाद, बुआ हुसैनी ने उसी दिन लखनऊ चलने का इरादा कर लिया। मैंने लाख लाख इसरार किया कि ठहर जाओ, उन्होंने न माना। ज्यादा जल्दी की वजह यह थी, कि मौलवी साहब बीमार थे। बुआ हुसैनी को दम भर कहीं ठहरना दूबर था। ऐसी ही मेरी मुहब्बत थी, जो चली आई थी। वह दिन, कानपुर से असबाब बगैरा के खरीदने और मकान के किराये और नौकरों चाकरों के हिसाब करने में तमाम हुआ। पूरी शिकरम किराया पर कर ली थी। जरूरी सामान इस पर लाद लिया और फ़बूल सामान नौकरों को दे दिया। दूसरे दिन लखनऊ पहुँच गई। फिर वही आबोदाना है, वही मकान, वही कमरा वही आदमी।

सत्रह

देखिये पहुँचे कहाँ तक, शोरशे दिल का असर,
सरशरे वहशत का, यह शोला है भड़काया हुआ ।

नवाब मलका किशवर की सरकर में सोझखानी का सिलसिला सल्तनत के जवाल तक रहा । इसी बीच में शाहजादे सिकन्दर हशमत, उफ़्रं जरनैल साहब के भुजराइयों में मेरा भी रसम हो गया था । जनावे आलिया और जरनैल साहब, कलकत्ता चले गये । वह ताल्लुक टूट गया ।

जिस जमाने में बाशी फ़ौज ने मिर्जा बिरजिस क़दर को मसनदे-रियासत पर बिठाया, मैं मुग़ारिक़वाद देने के लिये तलब हुई । शहर में एक अंधेर था । आज इसका घर लुटा, कल वह गिरफ़्तार हुआ, परसों उसके गोली लगी । चारों तरफ़ क्रयामत का सामान नज़र आता था । सय्यद कुतुबउद्दीन नामी एक साहब अफ़सराने फ़ौज में थे । इनका तफ़रियुन दरे दीलत पर था । मेरे हाल पर बहुत इनायत करते थे, इस लिये अक्सर वहीं रहना पड़ता था । मुजरे के लिये भी, वक्त बेवक़्त तलब होती रहती थी ।

इस चंद रोज़ा हुकूमत के जमाने में, बिरजिस क़दर के ग्यारहवें साल को सालगिरह का जलसा बड़ी धूम धाम से हुआ । इस जलसे में कश्मीरियों ने यह शज़ल गाई थी :

ग़रते महताब है बिरजिस क़दर,
गौहरे-नायाब है बिरजिस क़दर ।

उमराव जान 'अदा'

मैं ने एक गजल इस मौक़े के लिये लिखी थी, उसका मतला यह है,

दिल हज़ारों के तेरी भोली अदायें लेंगी,

हसरतें चाहने वालों की बलायें लेंगी ।

रसवा : 'उमराव जान ! तुमने मतला तो क्रयामत ही का कहा है । और कोई शेर याद हो तो पढ़ो ।'

उमराव जान : 'ग्यारह शेर कहे थे, मगर आपके सिर की कसम, सिवाय इस मतला के और कोई शेर याद नहीं, वह ज़माना ऐसी ही आफ़त का था । निगोड़ी दिन रात, जान धड़के मैं रहती थी । गजल एक पर्चा पर लिखी थी । जिस दिन बेगम साहबा, कैसरबाग़ से निकली हैं, वह पर्चा मेरे पानदान में था । फिर जब वहाँ से निकलना हुआ, होल जोल में पानदान कैसा, जूतियाँ और दोपट्टे तक छूट गये ।

रसवा : 'भला याद है, किस दिन बेगम साहबा कैसरबाग़ से निकली थीं ?'

उमराव जान : 'दिन तो याद नहीं । हज़ारी रोज़े के दूसरे या तीसरे दिन की बात है ।'

रसवा : 'हाँ, तुम्हें याद रहा । रजब की उन्तीसवीं तारीख़ थी । भला फ़सल कौन सी थी ?'

उमराव जान : 'अख़िरी जाड़े थे । नौरोज़ के चार पाँच दिन बाक़ी रहे होंगे ।'

रसवा : 'बिल्कुल ठुसत । मार्च की सोलहवीं तारीख़ थी । अच्छा, तुम बेगम साहबा के साथ कैसरबाग़ से निकलीं ।'

उमराव जान : 'जी हाँ, बौड़ी तक हमराह गई । रास्ता में नमक़ हाराम और बुजदिल अफ़सराने फौज़ के ग़मज़े, और बेगम साहब की खुशामद, उम्र भर न भूलेगी । एक साहब कहते हैं, 'लो साहब इनके राज़ में हम पैदल चलें । दूसरे साहब फ़रमाते हैं, 'भला खाने का तो इन्तज़ाम ठुसत होता ।' तीसरे साहब अप्रयून को पीट रहे हैं । चौथे अपनी जान को रो रहे हैं, कि हुक्का • वक्त पर नहीं मिलता । जब भरायच से, अंग्रेज़ी फौज़ ने बौड़ी पर हमला किया है, तो इसमें सैयद कुतुबउद्दीन मारे गये । बेगम साहबा नेपाल की तरफ़

रवाना हुई। मैं अपनी जान बचा के फ़ैजाबाद चली आई।

रुसबा : सुना है, बौड़ी में चार दिन के लिये खूब चहल पहल हो गई थी।'

उमराव जान : 'आप ने सुना है, मैंने इन आँखों से देखा है। लखनऊ के भागे हुए, सब वहीं जमा हो गये। बौड़ी का बाज़ार, लखनऊ का चौक मालूम होता था।'

रुसबा : 'अच्छा, इस क्रिस्ते से मुझको ज़्यादा दिलचस्पी नहीं है। यह कहिये, कि वह माल, जो आपने मियाँ फ़ैज़ू से लिया था, उनका क्या बना?'

उमराव जान (एक आँखे सदै भर के) : 'ऐ है, यह न पूछिये।'

रुसबा : 'शदर में सब लुट गया?'

उमराव जान : 'शदर में लुट जाता तो इतना अफ़सोस न होता।'

रुसबा : 'फिर क्या हुआ?'

उमराव जान : 'सारा क्रिस्सा दोहराना पड़ा। जिस दिन शव को फ़ैज़ू के साथ भागने वाली थी, मैंने कुल ज़ेवर और अशरफ़ियाँ एक पिटारी में बंद की, ऊपर से खूब कपड़ा लपेट दिया।

ख़ानम के मकान के पिछवाड़े, एक भीर साहब रहते थे। इमामवाड़े के कोठे की दीवार पर चढ़ जाओ, तो इनके मकान का सामना हो जाता था। मैं अक्सर चारपाई लगा के इस दीवार पर चढ़ जाया करती थी, और भीर साहब की वहन से बातें किया करती थी।

वह ज़ेवर की पिटारी, मैंने उनकी बहिन के पास फ़ैक दी और उन से हाथ जोड़ के कहा, इस को हिफ़ाजत से रखना। उन्होंने ने फ़ैजाबाद से आने के बाद, वह पिटारी ग़दड़ में लिपटी हुई मेरे हवाले कर दी। शदर में तमाम कुनिया के घर लुटे। अगर कह देती, कि लुट गई, तो मैं उनका क्या कर लेती। मगर बाहरी बीबी! एक कौड़ी तक नुकसान नहीं हुआ। ऐसे ही लोगों से ज़मीन आसमान थमा हुआ है, नहीं तो कब की क़यामत आ जाती।

रुसबा : 'भला कितने का माल होगा?'

उमराव जान : 'बोर्डे दस पन्दह हज़ार का माल था।'

रुसबा : 'और अब क्या हुआ?'

उमराव जान : 'क्या हुआ ? जिस राह आया था, उसी राह गया ।'

रसवा : 'मगर लोग तो मशहूर करते हैं कि तुम्हारी एक कौड़ी भी गदर में नहीं छुटी । सब माल तुम्हारे पास है ।'

उमराव जान : 'अगर माल होगा तो इन हालों में रहती, जैसी अब रहती हूँ ।'

रसवा : 'लोग कहते हैं, तुमने अपना माल नहीं निकाला है । अगर नहीं है, तो खर्च कहाँ से चलता है । अब भी कुछ बुरे हालों में नहीं रहतीं । दो आदमी नौकर हैं । खुश खुराक और खुश पोशाक भी हो ।'

उमराव जान : 'खुदा राजक है । जो जिसका खर्च है, वह उसको जरूर मिलता है । उस माल का तो एक हब्बा भी नहीं रहा ।'

रसवा : 'अच्छा तो फिर क्या हुआ ?'

उमराव जान : 'अब क्या । बताऊँ एक मेहरबान...'

रसवा : 'मैं समझ गया, यह गौहर मिर्जा की हरकत होगी ।'

उमराव जान : 'मैं अपने मुँह से नहीं कहती, शायद आपका क्रयास गलत हो ।'

रसवा : 'वेशक, तुम्हारे आली जफ़ होने में कोई शुबहा नहीं । देखिये यह चैन कर रहे हैं, तुम्हें पूछते तक नहीं ।'

उमराव जान : 'मिर्जा साहब ! रंडी से रंझ रहा रहा, न रहा न रहा । अब वह मुझे क्यों पूछें ?'

मुद्दत हुई कि तर्क मुलाकात हो गई ।

रसवा : 'अब कभी तशरीफ़ भी लाते हैं ?'

उमराव जान : 'वह काहे को तशरीफ़ लायेंगे ? मैं अबसर न्हाया करती हूँ । उनकी बीबी से मुहब्बत हो गई है । अभी चार दिन हुए, लड़के की दूध बढ़ाई की थी, तो बुला भेजा था ।'

रसवा : 'जब भी कुछ दे ही आई होगी ।'

उमराव जान : 'जी नहीं । मैं किस त्ताविल हूँ, जो किसी को कुछ दूँगी ।'

रसवा : 'तो वह माल गौहर मिर्जा के कट्टे लगा ?'

उमराव जान : 'मिर्जा साहब ! माल की कोई हकीकत नहीं है, हाथों का मेल है । फ़क्त बात रह जाती है । अब भी अपने पैदा करने वाले के कुर्बान जाऊँ, कभी नंगी भू-बी नहीं रहती । आप ऐसे क़दरदानों को खुदा सलामत रखे, मुझे किसी बात की तकलीफ़ नहीं है ।'

रुसवा : 'इसमें क्या शक़ है । वह तो पहले ही कह चुका हूँ, अब भी सौ से अच्छी, हजार से अच्छी । वल्लाह, यह तुम्हारी नीयत ही का फल है । खुदा ने ज़यारत से भी मुशरफ़ किया ।'

उमराव जान : 'जी हाँ, मीला ने सब मुरादें पूरी की । अब यह तमन्ना है, कि मुझे कर्बला फिर बुला भेजे । मेरी मिट्टी अज़ीज़ हो ज़य । मिर्जा साहब मैं इस इरादे से गई थी, कि फिर के न आऊँगी । मगर खुदा जाने क्या हुमा था, कि लखनऊ सिर पर सवार हो गया । मगर अब की अगर खुदा ने चाहा और जाना हो गया, तो फिर न आऊँगी ।'

अठारह

सुन चुके हाल तबाही का मेरी, और सुनो,
अब तुम्हें कुछ मेरी तक्रर मज़ा देती है।'

वौडी से बेगम साहवा और बिरजिस क़दर नेपाल को खाना हुए। सैयद कुतुबउद्दीन लड़ाई में मारे जा चुके थे। मैं बहज़ार मुदिकल फ़ैजाबाद आई। पहले सराय में उतरी। फिर त्रिपोलिये के पास, एक कमरा किराया को लिया था। मीरासी रख लिये। गाना, बजाना शुरू कर दिया।

फ़ैजाबाद में रहते हुए, अब मुझे छः महीने गुज़र चुके हैं। वहाँ की आबो-हवा तबीयत के बहुत मुनाफ़िक़ है, दिल लगा हुआ है। आठवें दसवें कोई न कोई मुज़रा आ जाता है। इसी पर बसर है। तमाम शहर में मेरे गाने की धूम है। जहाँ मुज़रा होता है, हज़ारों आदमी दूट पड़ते हैं। मेरे कमरे के नीचे, लोग तारीफ़ें करते हुए निकलते हैं। मैं दिल में खुश होती हूँ। कभी कभी खाबोख़्याल की तरह वचन की बातें याद आ जाती हैं और इसके साथ ही दिल में एक जोश सा पैदा होता है। मगर इन्तज़ाए-सलतनत, ग़दर बिरजिस क़दर, यह सब बाक़ये, आँखों के सामने गुज़र चुके हैं। कलेजा पथर का हो गया। माँ बाप के तस्सबुर के साथ ही यह ख़्याल आता है, 'ख़ुदा जाने अब कोई ज़िन्दा भी हो या न हो और अगर हो, तो उन्हें मुझसे क्या मज़लज ? वह और आलम में होंगे मैं और आलम में हूँ।' ख़ुद का जोश सही मगर कोई ग़ैरतदार आदमी मुझसे मिलना गवारा न करेगा। अब उनसे मिलने की कोशिश करना उनको रंज देना

है।' घर का ख्याल आते ही वह बातें दिल में आती थीं, फिर तबीयत और तरफ़ मुतवज्जेह हो जाती थी।

लखनऊ की याद अक्सर सताती थी। मगर जब इनकिलाब का ख्याल आता था, दिल भर जाता था। अब वहाँ कौन है, किसके लिये जाऊँ? खानम जाती हैं तो क्या हुआ? उनसे अब क्योंकर बनेगी? वही अगली हुकूमत जतायेंगी। मुझे अब उनकी कैद में रहना किसी तरह मंजूर न था। जो माल मीर साहब की बहन के पास अमानत था, वह अब क्या मिलेगा। तमाम लखनऊ लुट गया। मीर साहब का घर भी लुट गया होगा, उसका अब ख्याल ही बेकार है। अगर नहीं लुटा, तो अभी इसकी जरूरत ही क्या है, मेरे हाथ गले में जो कुछ मौजूद है, वह क्या कम है।

एक दिन, मैं कमरे पर बैठी हूँ। एक साहब शरीफ़ाना सूरत, अवेड़ से तशरीफ़ लाए। मैंने पान बना के दिया, हुक्का भरवा दिया। हालात दरयाफ़्त करने पर मालूम हुआ, बहू बेगम साहबा के अजीजों में से हैं। पन्शन पाते हैं। मैंने बातों बातों में मक्कबरा की रोशनी की तुम्हीद उठा के, पुराने मुलाजिमों का जिक्र छोड़ा।

मैं : 'अगले नौकरों में अब कौन कौन रह गया है?'

नवाब साहब : 'अक्सर मर गए। नए नए नौकर हैं। अब वह कारख़ाना ही नहीं रहा। बिलकुल नया इन्तज़ाम है।'

मैं : 'अगले नौकरों में एक बुड़े जमादार थे।'

नवाब : 'हाँ, थे, मगर तुम उन्हें क्या जानो?'

मैं : 'शहर से पहले मैं एक मर्तबा मुहर्रम में फ़ौजाबाद आई थी, मकबरे पर रोशनी देखने गई थी। उन्होंने मेरी बड़ी खातिर की थी।'

नवाब : 'वही जमादार था, जिनकी एक लड़की निकल गई थी।'

मैं : 'मुझे क्या मालूम, (दिल में) हाय अफ़साना अब तक मशहूर है।'

नवाब : 'यूँ तो कई जमादार थे और अब भी हैं, मगर रोशनी वगैरा का इन्तज़ाम शहर से पहले वही करते थे।'

मैं : 'एक लड़का भी उनका था।'

नवाब : 'तुमने लड़के को कहाँ देखा ?'

मैं : 'उस दिन उनके साथ था । ऐसी भी शकल मिलते कम देखी है, बिना कहे, मैं पहचान गई थी ।'

नवाब : 'जमादार गदर से पहले ही मर गए थे, वही लड़का उनकी जगह नौकर है ।'

इसके बाद बात टालने के लिए, मैंने और कुछ हालात इधर उधर के पूछे । नवाब साहब ने सोज पढ़ने की फ़रमाइश की । मैंने दो सोज सुनाये । बहुत महजुज हुए । रात कुछ ज्यादा हो गई थी, घर तशरीफ़ ले गए ।

बाप के मरने का हाल सुन के, मुझे बहुत रंज हुआ । उस दिन रात भर रोया की । दूसरे दिन वे अख़्तियार जी चाहा, भाई को जा के देख आऊँ ।

दो दिन के बाद एक मुजरा आ गया । उसकी तैयारी करने लगी । जहाँ का मुजरा आया था, वहाँ गई । मुहल्ले का नाम याद नहीं । मकान के पास, एक बहुत बड़ा पुराना इमली का दरख़्त था, उसी के नीचे नमगीरा ताना गया था । गिर्द कनातें थीं, बहुत बड़ा मजमा । मगर, लोग कुछ ऐसे ही वैसे थे । कनातों के पीछे और सामने खपरैलों में औरतें थीं । पहला मुजरा कोई नौ बजे शुरू हुआ, बारह बजे तक रहा । इस मुकाम को देख के दहशत सी होती थी । दिल उमड़ा चला आता था, कि यहीं मेरा मकान है । यह इमली का दरख़्त वही है, जिसके नीचे, मैं खेला करती थी । जो लोग महफ़िल में शरीक थे, इनमें से बाज़ आदमी ऐसे मालूम होते थे, जैसे इनको मैंने कहीं देखा है । शुबहा मिटाने के लिए, मैं कनातों के बाहर निकली । घरों की अनावट कुछ और हो गई थी । इससे ख्याल हुआ शायद यह वही जगह न हो । एक मकान को ग़ौर से देखा की । दिल को यक़ीन हो गया था, कि यही मेरा मकान है । जी चाहता है, कि मकान में घुसी चली जाऊँ । माँ के कदमों पर गिरूँ । वह गले लगा लेगी । मगर ज़ुरअत न होती थी । इसलिए कि मैं जानती हूँ, देहात में रंडियों से परहेज़ करते हैं । दूसरे बाप, भाई की इज्जत का ख्याल था । नवाब साहब की बातों से मालूम हो चुका था, कि जमदार की लड़की का निकल जाना लोगों को मालूम है । फिर जी कहता था, हाय, क्या

राजब है, सिर्फ एक दीवार की आड़ है। उधर मेरी अम्मा बँठी होंगी और मैं यहाँ उनके लिए तड़प रही हूँ। इक नजर सूरत देखना भी मुमकिन नहीं। क्या मजबूरी है ?'

इसी उधेड़बुन में थी, कि एक औरत ने आके पूछा : 'तुम्हीं लखनऊ से आई हो ?'

मैं : 'हाँ' अब तो मेरा कलेजा हाथों उछलने लगा।'

औरत : 'अच्छा तो उधर चली आओ, तुम्हें कोई बुलाता है।'

मैं : 'अच्छा।' कह के उसके साथ चली। एक एक पाँव गोया सौ सौ मन का हो गया था। कदम रखती थी कहीं, और पड़ता था कहीं।'

वह औरत उस मकान के दरवाजे पर मुझे ले गई, जिसे मैं अपना मकान समझे हुए थी। उस मकान की झ्योड़ी में मुझको बिठा दिया। अन्दर के दरवाजे पर टाट का पर्दा पड़ा हुआ था। उसके पीछे दो तीन औरतें आ के खड़ी हुईं।

एक : 'लखनऊ से तुम्हीं आई हो ?'

मैं : 'जी हाँ।'

दूसरी : 'तुम्हारा नाम क्या है ?'

जी में तो आया कह दूँ, मगर दिल को थाम के कहा : 'उमराव जान।'

पहली : 'तुम्हारा बतन खास लखनऊ है ?'

अब मुझ से जव्त न हो सका। आँसू निकल पड़े। मैं : 'असली बतन तो यही है, जहाँ खड़ी हूँ।'

पहली : 'तो क्या बँगले की रहने वाली हो ?'

आँखों से आँसू बराबर जारी थे, बमुश्किल जवाब दिया। मैं : 'जी हाँ।'

दूसरी : 'क्या तुम जात की पतुरिया हो ?'

मैं : 'जात की पतुरिया तो नहीं हूँ, तकदीर का लिखा पूरा कर रही हूँ।'

पहली (खुद रोके) : 'अच्छा तो रोनी क्यों हो ? आखिर कहो, तुम कौन हो ?'

मैं (आँसू पूँछ के) : 'क्या बताऊँ ? कौन हूँ। कुछ कहते बन नहीं पड़ता।'

इतनी बातें मैंने बहुत दिल सँभाल के की थीं, अब बिल्कुल ताब जव्त की न थी। सीने में दम रुकने लगा था।

इतने में दो औरतें पर्व के बाहर निकलीं। एक के हाथ में चिराग था। उसने मेरे मुँह को हाथ से थाम के, कान की लव के पास गौर से देखा, और यह कह के दूसरी को दिखाया और कहा,

‘क्यों हम न कहते थे, वही है?’

दूसरी : ‘हाथ मेरी अमीरन !’ यह कह के लिपट गई। दोनों माँ बेटियाँ चीन्ने मार मार के रोने लगीं। हिचकियाँ बँध गईं। आखिर दो औरतों ने आ के छुड़ाया। इसके बाद, मैंने अपना सारा क्रिस्सा दोहराया। मेरी माँ वैठी सुना की और रोया की। बाक़ी रात हम दोनों वहीं बैठे रहे। सुबह होते ही रणमत हुई। माँ ने चलते वक़्त, जिस हसरत भरी निगाह से मुझे देखा था, वह निगाह मरते वक़्त न भूलेगी। मगर मजबूरी। रोज़े रोशन न होने पाया था, कि सवार हो कर अपने कमरे चली आई। दूसरा मुजरा सुबह को होता मगर मैंने घर पर आके, कुल रुपया मुजरे का, वापस कर दिया और बीमारी का बहाना कहला भेजा। दुल्हा के वाप ने आधा रुपया फेर दिया। उस दिन, दिन भर जो मेरा हाल रहा खुदा ही पर ख़ूब रोशन है। कमरे के दरवाज़े बन्द कर के, दिन भर पड़ी रोया की।

दूसरे दिन, शाम को, कोई आधी घड़ी रात गये, एक जवान सा आदमी, साँवली रंगत, कोई बीस बाईस का सिन, पगड़ी बाँधे, सिपाहियों की ऐसी वर्दी पहने मेरे कमरे पर आया। मैंने हुक्का भरवा दिया। पानदान में पान न थे, मामा को बुला के चुपके से कहा, ‘पान ले आओ।’ इत्तिफ़ाक से और कोई भी इस वक़्त न था। कमरे में, मैं हूँ और वह हैं।

जवान : ‘कल तुम्ही मुजरे को गई थीं?’ यह इस तरह से कहा कि मैं भिन्नक गई।

मैं : ‘हाँ।’

इतना कह के उसके चेहरे की तरफ़ जो देखा यह मालूम होता था, जैसे आँवों से खून टपक रहा है।

जवान (सिर नीचा कर के) : 'खूब घराने का नाम रीशन किया ।'
 मैं (अब समझी यह कौन शख्स है) : 'इसको तो खुदा ही जानता है ।'
 जवान : 'हम तो समझते थे कि तुम मर गई', मगर तुम अब तक ज़िन्दा हो ।'

मैं : 'वेसैरत ज़िन्दगी थी, न मरी । खुदा कहीं से जल्द मौत दे ।'

जवान : 'बेशक इस ज़िन्दगी से मौत लाख दर्जे बेहतर थी । तुम्हें तो चुल्हू भर पानी में डूब मरना था । कुछ खा के सो रहतीं ।'

मैं : 'खुद इतनी समझ न थी, न आज तक किसी ने ऐसी नेक सलाह दी ।'

जवान : 'अगर ऐसी ही गैरतदार होती, तो इस शहर में कभी न आतीं और आई भी तो इस मुहल्ले में मुजरे को न आतीं; जहाँ की रहने वाली थी ।

मैं : 'हाँ इनकी खता जरूर हुई, मगर मुझे क्या मालूम था ?'

जवान : 'अच्छा, तो अब मालूम हो गया ।'

मैं : 'अब क्या होता है ?'

जवान : 'अब क्या होता है ? अब क्या होता है ? (छुरी कमर से निकाल के मुझ पर भपटा । दोनों हाथ पकड़ के गले पर छुरी रख दी) 'अब यह होता है ।' इतने में मामा बाज़ार से पान ले के आई । उसने जो यह हाल देखा, लगी चीखने, 'अरे दौड़ो, बीबी को कोई मारे डालता है ।'

जवान (छुरी गले से हटा के, हाथ जोड़ दिये) : 'औरत को क्या मारूँ ? और औरत भी कौन ? बड़ी ।' इतना कहं के ढाढ़ें मार-मार के रोने लगा ।

मैं पहले से रो रही थी, जब उसने गले पर छुरी रखी थी, जान के खौफ से एक धक्का सा कलेजे पर पहुँचा था । उससे दम बखुद हो गई थी । जब वह छोड़कर रोने लगा, मैं भी रोने लगी ।

मामा ने दो एक चीखें मारी थीं । जब उसने यह हाल देखा, कुछ धुप सी हो रही, इधर मैंने इशारे से मना किया, एक किनारे खड़ी हो गई ।

जब दोनों खूब रो धो चुके, तो वह बोला,

जवान (हाथ जोड़ के) : 'अच्छा तो इस शहर से कहीं चली जाओ ।'

मैं : 'कल चली जाऊँगी, मगर माँ को एक मर्तवा और देख लेती ।'

जवान : 'बस । अब दिल से दूर रखो, मुआफ़ करो । कल अम्माँ ने तुम्हें घर पर बुला लिया । मैं न हुआ, नहीं तो उसी वक़्त वारा न्यारा हो जाता । मुहल्ले भर में चर्चे हो रहे हैं ।'

मैं : 'तुमने देख लिया, जात से तो मैं डरती नहीं, मगर हाय तुम्हारी जान का खयाल है । तुम अपने बच्चों पर सलामत रहो । ख़ैर, अगर जीते रहे, तो कभी न कभी ख़ैरोआफ़ियत सुन ही लिया करेंगे ।'

जवान : 'बराये खुदा, किसी से हमारा ज़िक्र न करना ।'

मैं : 'अच्छा ।'

वह जवान तो उठ के चला गया । मैं अपने कमरे में मुब्तिला थी । मामा ने और जान खाना शुरू की, 'यह कौन थे ?'

मैं : 'रंडी के मकान पर हज़ारों आदमी आते हैं । कोई थे, तुम्हें क्या ?'

बहर तौर मामा को टाल दिया । रात की रात सो रही, सुबह को उठ के लखनऊ के चलने की तैयारी की । शामों शाम शिकरम किराया पर करके रवाना हो गई ।

उन्नीस

लखनऊ में आकर खानम के मकान पर उतरी । वही चौक, वही कमरा, वही हम हैं । अगले आने वालों में से कुछ लोग कलकत्ता चले गये थे, कुछ और शहरों में निकल गये थे । शहर में नया इन्ताज़म, नये क़ानून जारी थे । आसफ़उद्दौला के इमामबाड़े में क़िला था । चारों तरफ़ दहस बने हुए थे । जा बजा चौड़ी सड़कें निकल रही थीं । गलियों में खरेंजे बनाये रहे थे, नाले नालियाँ साफ़ की जाती थीं । गरजेफ़ि, लखनऊ अब और ही कुछ हो गया था ।

मैं दो चार महीने खानम के मकान पर रही । इसके बाद, कुछ हीले से एक अलहदा कमरा ले कर रहना शुरू किया । ज़माने के इन्क़लाब के साथ खानम की तबीयत भी कुछ बदल गई थी । मिज़ाज में एक बेपरवाही सी आ गई थी । जो रंझियाँ उनसे अलग हो गई थीं, उनका तो ज़िक्र ही क्या, जो साथ रहती थीं, उनके रूपये पैसे से भी कोई वास्ता न था । मेरा अलहदा हो जाना भी, कुछ उनके मिज़ाज के खिलाफ़ न गुजरा । दूसरे तीसरे दिन मैं जाती थी, सलाम करके चली आती थी । इसी ज़माने में नवाब महमूद अली खाँ साहब से मुँहसे तपाक बढ़ा । पहले कुछ दिनों तशरीफ़ लाया किये । फिर नौकर रखा । इसके बाद मुझे पाबन्द करना चाहा । भला मुझ से कब हो सकता था, कि लखनऊ में रहूँ और क़दीम मिलने वालों से तर्क कर दूँ । जब मैंने नवाब साहब की तबीयत का यह रंग देखा, तर्क ताल्लुक करना चाहा । अब नवाब साहब ने

अदालत में दावा दायर कर दिया, कि मुझ से निकाह है। अजब आफ़त में जान फँसी। मुक़दमे की पैरवी में हजारों रूपये सर्फ़ हुए। अदालत इबादाई में फँसला नवाब साहब के हक़ में हुआ। अब मुझे रूपोश होना पड़ा। मुद्दों छिपी छिपी फिरी। वकील की मार्फ़त अपील की। अपील में नवाब साहब हारे। नवाब साहब ने हाई कोर्ट में अपील की, यहाँ भी हारे। अब नज़ायज़ धम-कियाँ देना शुरू की, 'मार डालूँगा, नाक काट लूँगा।' इस ज़माने में जान की हिफ़ाज़त के लिये मुझको दस बारह आदमी लठ्ठ बाज़ नौतर रखने पड़े। जहाँ जाती हूँ आदमी फ़ीनस के साथ हैं। नाक में दम हो गया। आख़िर मैंने फ़ौजदारी में मुचलके का दावा किया। गवाहों से साबित करवा दिया, कि नवाब साहब वेशक़ जान लेने पर तुले हैं। हाकिम ने नवाब साहब से मुचलका ले लिया। अब जाके जान छूटी। छः बरस तक इन मुद्दों में फँसी रही। खुदा खुदा कर के नज़ात हुई।

जिस ज़माने में नवाब साहब से मुक़दमा लड़ रही थी, एक साहब अक़बर अली खाँ नामी, मुख्तयार पेशा, चलते पुर्जे, बड़े ही आफ़त के परकाले, नज़ायज़ करवाईयों में मशग़, जालसाज़ी में उस्ताद, झूठे मुक़दमें बनाने में ज़माने में यक़त, अदालत को धोखा देने में एक, मेरी तरफ़ से पैरोकार थे। इनकी वजह से अदालती कामों में बहुत मदद मिली। सच तो यह है, कि अगर वह न होते, नवाब से सरबर न होती। अगरचें सच्चा वाक़या यह है, कि नवाब से और मुझ से निकाह न था। मगर अदालतों में, अक्सर सच्ची बात के लिये भी झूठे गवाह पेश करना होते हैं। दूसरे फ़रीक़ की तरफ़ से बिल्कुल झूठा दावा था। लेकिन मुक़दमा इस सलीके से बनाया गया था कि कोई सूरत बचने की न थी। निकाह के सबूत में दो मौलवी पेश किये गये थे, जिनके माथों पर घट्टे पड़े, बड़े बड़े अमामे सिर पर, अबाएँ कंधों पर, हाथों में कंठे, पाँव में जूतियाँ। बात बात में, काल-उल अल्ला काल-उल रसूल। उनकी सूरत देवकर किसी हाक़मे-अदालत क्या, किसी नेक नीयत आदमी को झूठ का शुबहा भी नहीं हो सकता। उनमें से एक हज़रत नावहे के वकील बने थे और दूसरे मन्क़ूहा के। मगर हक़ फिर हक़ है और नाहक़, नाहक़। ज़िरह में बिगड़ गये। नवाब के

और गन्नाह उन से ज्यादा बिगड़े और इन्हीं की गन्नाही की वजह से, नवाब अपोल हार गये । फौजदारी में मेरी तरफ से जो गवाह पेदा किये गये थे, वह सब अकबर अली के बनाये हुए थे, बिल्कुल न बिगड़े ।

अकबर अली खाँ की अमदोस्त, मेरे मकान पर बहुत जमाने तक रही । उन्होंने मेरे साथ पूरा हऊ, दोस्ती का अदा किया । एक हब्बा तक नहीं लिया । बल्कि अपने पास से बहुत कुछ सर्फ किया । वाकई उनको मेरे साथ एक किस्म की मुहब्बत थी । मेरा जाती तर्जवा यह है, कि बुरे आदमी भी बिल्कुल बुरे नहीं होते । किसी न किसी से भले जरूर हो जाते हैं । अगले जमाने के चोरों की निस्बत, आप ने सुना होगा, कि जब किसी से दोस्ती कर लेते थे, तो इसका पूरा निवाह करते थे । वगैर किसी कदर भलाई के जिन्दगी बसर नहीं हो सकती । जो शक्स सब से बुरा हो, वह भी किसी का होके रहेगा । जब तक नवाब से मुकदमा होना रहा, मैं किसी अजनबी शक्स को अपने पास न आने देती थी । ऐसा न हो, कि उसका भेजा हुआ खुफिया खबर लेने आया हो और किसी तरह से मुकसान पहुँचाये । अकबर अली खाँ कचहरी से पलट के यहीं आते थे । हर चन्द मैंने इसरार किया, कि मकान से खाना मँगाने की क्या जरूरत है ? मगर उन्होंने न माना । आखिर मजबूर हो के चुप हो रही । मेरे घर के खाने से इन्कार भी न था । मैं भी उन्हीं के साथ खाना खाती थी । इस जमाने में, मैं भी नमाज की पाबन्द हो गई थी । अकबर अली खाँ को ताजियादारी से इश्क था । रमजान और मुहर्रम में, वह इस कदर नेक काम करते थे, कि जिस से उनको साल भर के गुनाहों से नजात मिल जाती थी । यह सही हो या गलत, मगर उनका ऐसा भरोसा था ।

रुसवा : 'यह शुआमला ईमान का है, इसलिये मुझे इतना कह लेने दीजिये कि यह भरोसा नहीं है ।'

उमराव जान : 'मेरे नजदीक भी ऐसा ही है ।'

रुसवा : 'अक़लमंदों ने गुनाह की दो किस्में की हैं । एक वह, जिनका असर अपनी ही जात तक रहता है और दूसरे वह, जिनका असर दूसरों तक पहुँचता

है। मेरी राय में, पहली किस्म के गुनाह छोटे और दूसरी किस्म के गुनाह बड़े हैं। अगर्चे और लोगों की राय इसके खिलाफ़ हो जिन गुन हों का असर दूसरों तक पहुँचता है, उनकी बख्शिश वही लोग कर सकते हैं, जिन पर इसका बुरा असर पड़ा हो। तुम ने ख्वाजा हाफ़िज़ का वह शेर तो सुना होगा,

मैं ख़ुरो मसहफ़ बसोज़ो, आनिश अन्दर कावा जन

साक्रिने बुख़ाना बाशो मरदुम आज़ारी मकुन।'

यानि शराब पी, नमाज़ पढ़ने की चटाई को जला दे, काबे में आग लगा दे, बुख़ाने में पड़ रह—यह सब कुछ कर मगर मानव को दुःख न पहुँचा। उमराव जान 'याद रखो, मरदुम आज़ारी बहुत ही बुरी चीज़ है, इसकी बख्शिश कहीं नहीं है, और अगर इसकी बख्शिश हो, तो खुदा की खुदाई बेकार है।''

उमराव जान : 'मेरा तो बाल बाल मियाँ का गुनहगार है। मगर इससे मैं भी काँपती हूँ।'

रुसवा : 'मगर तुम ने दिल बहुत दुःखाए होंगे ?'

उमराव जान : 'फिर यह तो हमारा पेशा है। इसी दिल की बदौलत तो लाखों रुपए हमने कमाये, हजारों उड़ाये।'

रुसवा : 'फिर इसकी सज़ा क्या होगी ?'

उमराव जान : 'इसकी कोई सज़ा नहीं होनी चाहिए। हमने जिस किस्म से दिल दुःखाए, उसमें एक तरह की लज्जत है, जो इस दिल दुःखाने का मुआबज़ा हो जाती है।'

रुसवा : 'क्या ख़ूब ?'

उमराव जान : फ़र्ज़ कीजिये, एक साहब ने हम को मेले तमाशे में देख लिया, मरने लगे। कौड़ी पास नहीं। हम बिना लिये मिल नहीं सकते। इनका दिल दुःखता है। फिर इसमें हमारा क्या क़ुसूर है ? दूसरे साहब हमसे मिलना चाहते हैं। रुपया भी देते हैं। हम एक और शास्त्र के पाबन्द हैं या उनसे मिलना नहीं चाहते। अपना दिल। इनकी जान पर बनी है। फिर ! हमारी बला

से । बाज साहब हमारे पास इस तरह के आते हैं, जो यह चाहते हैं कि हमें चाहो । हम नहीं चाहते, जबरदस्ती है ? इससे उनको सदमा पहुँचता है । हमारी जूती से ।'

रुसवा : 'यह सब गोली मारने के लायक हैं । मगर बराए खुदा, कहीं मुझ इनमें से किसी में शुमार कर लीजियेगा ।'

उमराव जान : 'खुदा न करे । आप खुश किस्मती है । न आप किसी को चाहते हैं न कोई आपको चाहता है । और फिर आप सबको चाहते हैं और सब आपको ।'

रुसवा : 'यह क्या कहा ? एक बात है, नहीं भी है । कहीं ऐसा भी हो सकता है ? ?'

उमराव जान : 'मैं मन्तक तो ज्यादा पढ़ी नहीं, मगर हो सकता है, जब एक बात के दो पहलू हों । एक चाहना अक्लमन्दी के साथ होता है और एक बेवकूफी के साथ ।'

रुसवा : 'इसकी मिसाल ?'

उमराव जान : 'पहले की मिसाल, जैसे आप मुझ को चाहते हैं, मैं आपको ।'

रुसवा : 'खैर, मेरे चाहने का हाल तो मेरा दिल ही जानता है । और आपके चाहने का हाल आपके इत्तारार से मालूम हो गया । आगे चलिये दूसरी मिसाल ।'

उमराव जान : 'खैर नहीं चाहते, तो मेरा बुरा चाहते होंगे । दूसरे की मिसाल सुनिये, जैसे खुदा से फरियाद करना ।'

रुसवा : 'नहीं, इस मिसाल में आपने गलती की और कोई मिसाल दीजिये ।'

उमराव जान : 'अच्छा जैसे क्रैस लैला को चाहता था ।'

रुसवा : 'आप भी क्या दक्रियानूसी ख्याल ढूँढ के लाई हैं ।'

उमराव जान : 'अच्छा, जैसे नज़ीर...'

रुसवा (बात काट के) : 'इस मिसाल से मुआफ़ कीजिये । इस मौका पर मुझ को एक शेर याद आया है, सुन लीजिये,

‘क्या कहूँ तुझसे मुहब्बत, वह बला है हमदम,
हमको इबरत न हुई ग़र के मर जाने से।’

उमराव जान : ‘हाँ, वह कलकत्ता वाला मुशामला।’

रसवा : ‘इतनी दूर कहाँ पहुँची ? क्या लखनऊ में ऐसे नहीं रहते।’

उमराव जान : ‘दुनिया खाली नहीं है।’

रसवा : ‘हाँ, मैंने सुना था, आप अकबर अली खाँ के घर बैठ गई थीं?’

उमराव जान : ‘मुझ से सुन लीजिये। जिस ज़माने में नवाब छोटी अदा-लत से जीत गये थे, और मैं रूपोश हुई हूँ, उस ज़माना में अकबर अली खाँ मुझे अपने मकान ले गए थे। कई बरस रहने का इत्तिफ़ाक़ हुआ है। इस ज़माना में तीन आदमी इस धोखे में थे, कि मैं अकबर अली खाँ के घर बैठ गई। एक तो खुद अकबर अली, दूसरे उनकी बीबी, तीसरे का नाम न बताऊँगी।’

रसवा : ‘मैं बता दूँ?’

उमराव जान : ‘गौहर मिर्जा?’

रसवा : ‘जी नहीं।’

उमराव जान : ‘तो फिर और कौन ? बताइये।’

रसवा : ‘आप बताइये।’

उमराव जान : ‘ऐसे फ़िक़रे किसी और को दीजिये।’

रसवा : ‘फ़िक़रा कैसा ? मैं भी एक पर्चे पर लिख कर देता हूँ, फिर आप बताइये।’

उमराव जान : ‘बेहतर।’

रसवा : ‘पर्चा लिखकर रख दिया। अब कहिये।’

उमराव जान : ‘तीसरे मैं खुद।’

पर्चे में लिखा था ‘आप खुद।’

उमराव जान : ‘वाह मिर्जा साहब, ख़ूब पहचाना।’

रसवा : ‘आपकी इनायत है। हाँ, तो क्या गुज़री?’

उमराव जान : ‘गुज़री क्या, सुनिये।—

अब्वल तो उन्होंने मुझे एक छोटे से मकान में ले जाके उतारा, जो उनके

मकान से मिला हुआ था। खिड़की दरम्यान में थी। मुआ कच्चा सा मकान। एक छोटी सी दलनिया, आगे छप्पर, एक और छप्पर सामने पड़ा हुआ, इसमें दो बूल्हे बने हुए। यह क्या है? बावरची खाना। और सब खाने भी ऐसे ही समझ लीजिये। इसी मकान में, मैं भी रहूँ और मियाँ के बेकल्लुफ़ दोस्त भी आया च हें। इनमें से एक साहब, शेख अफ़ज़ल हुसैन, छूटते ही भोजी कहने लगे। इनके बुतुकेपन ने नाक में दम कर दिया। पौनों की फ़रमाइश से तंग हो गई। हर सट्टे, 'भोजी पान न खिलाओगी?'

एक दिन, दो दिन, आखिर मुरौबत कहाँ तक? इन्तहा यह, कि पानदान मैंने उनके आगे सरका दिया। उस दिन से मैं खुद, दस्तबंदवार हो गई। उन्होंने क़ब्ज़ा कर लिया, जैसे कोई बाप के माल पर क़ब्ज़ा करता है। पान इस बद-तमीज़ी से खाते थे, कि देखने वालों को ख़ामज़ाह नफ़रत हो जाय। क़त्थे-चूने की कुलियों में उँगलियाँ पड़ रही हैं। ज़ुब न से चाट रहे हैं। मैंने जब यह क़रीना देखा, चिकनी के चूरे और इलायची पर बसर करने लगी। इसमें भी वह साभा लगाते थे। एक और साहब बाजद अली नामी, अक्सर ख़मूसन, खाने के वक्त तशरीफ़ लाते थे। अब याद नहीं कि अकबर अली ख़ाँ के विरादर निस्बती थे। इनके मज़ाक में ग़ाली ग़लीज हृद से ज़्यादा था।

इन दोनों साहबों के सिवा, अकबर अली ख़ाँ साहब के बेतकल्लुफ़ एहबाब बहुत से थे, जिनमें से अक्सर को मुक़दमा बाज़ी का शौक था। रात दिन क़ानून छूँटा करता था। मगर जब मिर्जा साहब तशरीफ़ ले जाते, तो इक ज़रा अमन हो जाती थी।

इस मकान से चन्द रोज़ के बाद मेरी तबीयत हृद से ज़्यादा उकता गई। क़रीब था, कि कहीं और, रहने का बन्दोबस्त करूँ, कि एक दिन ऐसा इत्तिफ़ाक़ हुआ कि अकबर अली ख़ाँ किसी मुक़दमा में फ़ैज़ाबाद गये, और अफ़ज़ल अली अपने गाँव। इत्तिफ़ाक़ से मकान में कोई नहीं। दरवाज़े की कुंडी बंद कर ली है। मैं अकेली वैटी हूँ, कि इतने में खिड़की जो जनाने मकान की दीवार में थी, खुली, और अकबर अली ख़ाँ की ग़ीबी अन्दर चली आई। मुझे खाही नखाही सलाम करना पड़ा। अँगनाई में तख़्तों का चौका पड़ा था। उसी के पास मेरा

पलंग लगा था । पहले बड़ी देर तक चुपके खड़ी रहीं । आखिर मैंने कहा, 'अल्लाह, बैठ जाइये ।' बारे बैठ गई ।

मैं : 'हम गरीबों पर क्या इनायत थी ? आज इधर कहाँ तशरीफ आई ?'

बीबी : 'तुमको मेरा आना तागवार हो तो चली जाऊँ ।'

मैं : 'जी नहीं, आजका घर है । मुझे ऐसा हुक्म हो, तो मुनासिब भी है ।'

बीबी : 'ले, बातें न बनाओ । अगर मेरा घर है, तो तुम्हारा भी घर है ।

और सब पूछो, तो न मेरा न तुम्हारा । घर तो घर वाले का है ।'

मैं : 'जी नहीं ! खुदा रखे आपके घर वाले को । उनका भी है, और आपका भी ।'

बीबी : 'तुम अकेली बैठी रहती हो । आखिर हम भी आदमी हैं । उधर क्यों नहीं चली आतीं । हाँ, मियाँ का हुक्म न होगा ।'

मैं : 'मियाँ के हुक्म की तो कुछ ऐसी तावे नहीं हूँ । हाँ, आपकी इजाजत की जरूरत थी, वह हासिल हो गई । अब हाज़िर हूँगी ।'

बीबी : 'अच्छा, तो चलो ।'

मैं : 'चलिये ।'

मकान में जा के जो देखती हूँ, खुदा का दिया सब कुछ था । ताँबे के मटकें, देग, गगरे, पतिलियाँ, लोटे, निवाड़ के पलंग, मसहरी, तख्तों की चौकियाँ, फर्श फ़र्श, मगर किसी बात का करीना नहीं । अँगनाई में जा बजा कूड़ा पड़ा हुआ, बाहरची खाने में, सामने बुग्रा अमीरत खाना पका रही हैं, भकिवियाँ भिन-भिन कर रही हैं । तख्तों के चौक पर पीक के चक्ते पड़े हुए । बीबी के पलंग पर मतों कूड़ा । इमामन ने पानदान ला के बीबी के सामने रख दिया । कत्थे चुने के घट्टों में सारा पानदान छिपा हुआ था । देख के, मेरा तो जी मालिश करने लगा ।

बीबी ने पान लगा के दिया । मैंने चुटकी में दबा लिया । बातें करने लगी । इसी बीच, मुहल्ले की एक बुढ़िया आ निकली । जमीन पर फसकड़ा मार के बैठ गई । बीबी से मेरी तरफ़ इशारा करके पूछा, 'यह कौन हैं ?'

बीबी : 'अब तुम्हें क्या बताऊँ ?'

मैं चुपकी रही और बुढ़िया अकबर अली खाँ की बीबी से बोली : 'ऊई ! जैसे मैं जानती नहीं ।'

मैं : 'बड़ी बी । फिर जानती हो तो इसका पूछना क्या ?'

बुढ़िया : 'ऊई बी । तुमसे मैं बात नहीं करती । मैं तो अपनी वह साहब से पूछनी हूँ । मेरा मुँह तुमसे बात करने के लायक नहीं । तुम बड़ी आदमी हो ।'

मैं बुढ़िया का मुँह देख के चुप हो रही ।

बीबी : 'ऊई, बुढ़िया । ज़रा सी बात में भाड़ का काँटा हो गई ?'

बुढ़िया (बीबी से) : 'तुम तो इस तरह बात छिपाती हो, जैसे हम दुश्मन हैं । ए, हम तो इनकी भलाई के लिये बात करते हैं । यह हनीं से उलटे बिगड़ती हैं ।'

बीबी : 'ले वस, अपनी खैर खाही रहने दो बुआ । तुम किसी के घर की इजारेदार हो ।'

बुढ़िया : 'हमारा इजारा क्यों होने लगा । अब जो नई-नई आती जायेंगी, उनका इजारा होता जायेगा ।'

बुढ़िया की इस बात पर मुझे बेसालता हँसी आ गई । मुँह फेर के हँसने लगी ।

बीबी : 'क्यों नहीं । ए तुम मेरी सौत हो (मेरी तरफ़ मुखातिब होके) ले मुन लो, खाँ साहब की पहली बीबी यही हैं । बीबी, तुम असल में इनकी सौत हो । मैं तो इनके बाद आई हूँ ।'

बुढ़िया : 'हाँ, अपने होतों सोतों की, मुझे यह बातें अच्छी नहीं लगती । मुँह दर मुँह गालियाँ देती हो । मुई कस्बियों, खानगियों की सोहबत में और क्या सीखोगी ? यही तो सीखोगी । लो, इतने दिन मुझे आये हुए, बड़ी बेगम साहबा (अकबर अली खाँ की बालिदा) ने आधी बात मुझे नहीं कही । बहू साहब गुनवती ऐसी हैं, कि मुहल्ले की बुढ़ियों को गालियाँ देती हैं ।'

बीबी (गुस्सा होकर) : 'मैंने तुमसे कह दिया लुड्डन की माँ, तुम आज से मेरे पास न आना । वहीं बड़ी बेगम साहबा के पास जा के बैठा करो ।

मुझे बहुत गुस्सा था, मगर मैंने देखा, कि बेतुकी औरत है, इसके मुँह कौन लगे ? ज़ब्त करके चुपकी हो रही ।

बुढ़िया : 'हमारी बला आती है ।'

बीबी : 'मुई की शामतें आई हैं । यह बला बग़मा क्या बक रही है ?

बुढ़िया : 'तो क्या तुम्हारे दर्बल हैं । कुछ किसी के लेने देने में नहीं, घड़ी भर निकल आये थे । तुम हमसे, हम तुमसे बातें करते थे । न आयेंगे ।'

बीबी : 'हरगिज़ न आना ।'

बुढ़िया : 'इस ज़िद पर तो बरूर आयें । देखें तो, तुम हमारा क्या बनाती हो ।'

बीबी : 'आओगी तो इतनी जूतियाँ लगायेंगी, कि सिर में एक बाल भी न रहेगा ।'

बुढ़िया : 'क्या ताक़त, क्या मजाल, जूतियाँ मारेंगी, बेचारी ?'

बीबी : 'ले, उठो, यहाँ से टलो, नहीं तो लेती हूँ हाथ में जूती ।'

बुढ़िया (ठट्ठा लगा के) : 'आज तो हम जूतियाँ खा के ही जायेंगे, मारो । बड़े बाप की बेटी हो ।'

बाप के नाम पर बीबी को गुस्सा आ गया । चेहरा सुर्ख हो गया । थर थर काँपने लगीं ।

बीबी : 'दूर हो यहाँ से, कहती हूँ ।'

बुढ़िया : 'अब तो हम जूतियाँ खा के ही जायेंगे ।'

बीबी (मुझसे मुखातिब होके) : 'देखो यह मुझे ज़िद दिला रही है । बिन मारे मुई को न छोड़ूँगी ।'

मैं : 'बेगम ! जाने भी दीजिये । मुई बेतुकी है ।'

बुढ़िया (मुझ से) : 'तू कुछ न बोलना, मालज्जादी । तुझे तो कच्चा ही खा जाऊँगी ।'

बीबी (जूती पैर से लेकर) : 'एक, दो, तीन—अब राज़ी हुई ?'

मैं (हाथ से जूती छीन ली) : 'बेगम, जाने दीजिये ।

बीबी : 'नहीं, तुम न बोलो । मुई का कच्चा निकाल डालूँगी ।

बुढ़िया : 'और मारो ।'

बीवी ने दूसरे पैर से जूती उतार कर पाँच चार और लगाईं । अब तो बुढ़िया ने ज़मीन पर पाँव फँला दिये और ज़मीन पर दोहत्तड़ मारना शुरू किये, 'है है ! है है, मुझे जूतियाँ मारीं । अब तो दिल ठंडा हुआ । सौत की जलन मुझ पर उतारी, हाय मारा । हाय मारा ।' चिल्ला-चिल्ला के दुहाई देना शुरू की । बावरचीखाने से बुढ़िया अमीरन उठ के दीड़ी । बड़ी बेगम साहबा अपने दालान से चली आई । एक आफ़त बरपा हो गई । बड़ी बेगम साहबा को आते देखकर और भी दोहत्तड़ मारना शुरू किये, 'इस बुढ़ापे में मुझे जूतियाँ खिलवाई ।'

बेगम साहबा : 'ले मुझे क्या मालूम, कि तुम पर जूतियाँ पड़ रही हैं नहीं तो आके बचा लेती । आखिर बात क्या हुई ?'

बुढ़िया (मेरी तरफ़ इशारा करके) : 'इस मालज़ादी ने मार खिलवाई । अरे इसने मार खिलवाई ।'

मैं ठगमारी सी हो गई । बेगम साहबा से मुझसे इस वक़्त सामना हुआ । कुछ कहते नहीं बन पड़ता ।

बीवी : 'फिर इनका नाम लिये जाती है ?'

बुढ़िया : 'हम तो नाम लेंगे । तुम क्या करती हो ?'

बेगम साहबा : 'आखिर हुआ क्या था ?'

बुढ़िया : 'मुझ निगोड़ी ने इतना पूछा, कि यह कौन हैं ? ले भला, क्या गुनाह किया ?'

बीवी : 'तुम तो कहती थीं मैं जानती हूँ । फिर पूछने से क्या मतलब ?'

बुढ़िया : 'क्या मतलब था ? अच्छा मतलब बता दूँगी, तो सही । जो अपना एवज न ले लूँ । तुम ने मारा तो है ?'

बेगम साहबा : 'चल शफ़तल, तू क्या बदला लेगी । ज़रा किसी भुलावे पर न भूलना ।

बुढ़िया : 'मैं तुम से कुछ नहीं कहती । तुम जो चाहे कह लो, तुम्हारा हक़ है ।'

बेगम साहबा : 'तेरे वाली की ऐसी तैसी, निकल यहाँ से !'

बुढ़िया : 'लो यह भी निकालती हुई आई । अच्छा जाते हैं ।'

यह कह के बुढ़िया उठ खड़ी हुई । लहंगा भाड़ भूड़, बुड़बुड़ाती हुई, 'बड़ी आई' निकालने वाली ! जाते हैं, जाते हैं । देखें तो, क्योंकर नहीं आने देती ?'

बेगम साहबा (वहू से) : 'आखिर तुम इस मुई चुड़ैल के मुँह क्यों लगती ?'

बीबी : 'अम्माँ जान ! आपके सिर की क्रसम, मैंने तो कुछ भी नहीं कहा । वह तो, आप ही जैसे कोई खरी खाट पर से सो के आई थीं । सैकड़ों बातें तो इन बेचारी को सुना के रखदीं ।'

बेगम साहबा, मेरे जिक्र पर, कुछ नाक भी चढ़ा के चुपकी हो गई । मुझको इस बुढ़िया की बात तो तागवार नहीं हुई, क्योंकि मैं उसे दीवाना समझे हुए थी मगर हाँ बेगम साहबा की बेग़तनाइ से सख्त सदमा हुआ । वह अभी वहीं खड़ी थीं, कि मैं उठ के त्रिड़की के पास चली आई और अपने मकान में आन बैठी ।

बेगम साहबा (भिरे चले आने के बाद, वहू से) : 'ओहो बेदा ! तुमने बुढ़िया निगोड़ी को ख़ामखाह पीट डाला और फिर मुई एक शफ़तल बाज़ारी के लिये । आखिर तुम्हें उसकी परचक लेना क्या ज़रूरी थी ?'

अमीरन : 'अच्छा उसको जाने दीजिये, जैसी उसने बदज़बानी की थी, अपनी सज़ा को पहुँची । यह पूछिये कि क़स्बी ख़ानगियों से मेल-जोल कैसा ? और वह भी वह, जिससे मियाँ से आशनाई हो । यभी वह लाके सिर पर बिठा देते, तौ कैसी मलामत डालती और खुद फ़र्ज़ करके, जा के बुला लाई ।'

बेगम साहबा (अमीरन से) : 'उसकी मज़ाल थी, घर में ले आता । हम नहीं बैठे हैं ? बाहर जिसका जी चाहे आये, घर में किसी का क्या काम है ? ऐ लो, उनसे (अकबर अली खाँ के बाप) बरसो हुसैन बाँदी से मुलाक़ात रही । उसने कैसी मिन्नतें कीं, मैंने नहीं हामी भरी । बुआ अमीरन, मैं यह सोची, कि आज को महमान तरीक खड़ी-खड़ी चली आयेगी, कल मियाँ घर में बिठा लेंगे, तो यह छाी पर मूँग कौन दलवायेगा ? अपनी पत अपने हाथ है । यह आजकल की लड़कियों को अपने आगम-अन्देशे का ख़याल नहीं ।'

अमीरन : 'सच है बेगम साहबा ! अक्बल तो सूँढ़े पर बैठने वालों का घर गिरस्तियों में काम ही क्या है ? अगले लोग कहते थे, एक बार मर्द को घर में बुला ले, मगर बद औरतों को न बुलाये ।'

बेगम साहबा : 'बुआ ! यह है कि मर्द अगर चला भी आयेगा तो क्या वह औरतों में घुस के बैठेगा । कल की बात है, भागड़ के दिनों में, बरसों हुसैन खाँ हमारे घर में छिपे रहे । फिर बुआ एक घर का रहना सहना । मगर मजाल है, उन्होंने मेरा प्राँचल तक देखा हो, बात सुनी हो । दिन दिन भर सेहनवी में घुटी बैठी रहती थी । मामा असीलों से इशारों में बातें करती थी ।'

अमीरन : 'एक तो यह, कि तुम सेहनक की खाने वाली बीवी की साहब-जादी । जब ऐसों के पास बैठोगी, कहाँ तक बचाव होगा । कहीं उसने कत्थे चूने की कुलियों में हाथ डाल दिया । तुम्हारी आँख बच्चा के कटोरी में पानी पी लिया । दूसरी मुई टकाहियाँ, इनका एतबार क्या ? सैकड़ों आज्ञों में भरी होती हैं । इनकी तो परछाइयों से बचना चाहिये ।'

बेगम साहबा : 'एक बात । सभी बातों का बराबरो होना चाहिये । पर-छाँवाँ, बाँघन, टोने टोटके, बुआ कौन कहे, इनको तो समझ नहीं, और जो कुछ खिला ही दे । मिर्जा मुहम्मद अली की बहू को सौत ने जोंक खिला दी । दीनो-दुनिया से जाती रही, न आस की न औलाद की ।'

अमीरन : 'जी हाँ । ए लो, क्या मैं जानती नहीं ?'

बेगम साहबा : 'बुआ, यह सौतापे का रिश्ता ऐसा है कि इसमें अलग थलग रहने पर भी जान नहीं बचती । मुझी को देखो । उस मुई टके की कंहारी ने कोई बात उठा रत्नी, दुप्रा, तावीज, गंडे, कैसे कैसे नक्श मेरे सिराहने से निकलते थे ।'

अमीरन : 'फिर उसको अपने घर में क्यों आने दिया ?'

बेगम साहबा : 'ए बुआ ! नौकर थी । मैं क्या जानती थी, कि उससेमियाँ से लगा सग्गा है ? जिस दिन मालूम हो गया, मैंने खड़े-बड़े निकाल दिया ।'

अमीरन : 'मगर बेगम ! एक बात कहूँ, खुदा लगती । आपकी खिदमत बहुत की ।'

बेगम साहबा : 'यह खूब कही, मियाँ को छीना था। अब क्या इससे भी गई गुजरी। इस बुढ़िया को क्या समझी हो ? इससे भी, किसी जमाने में, मियाँ से थी।'।

अमीरन (कहकहा लगा कर) : 'नहीं बेगम साहबा।'।

बेगम साहबा : क्या मैं झूठ कहूँगी ? जब ही तो वह दोहराती थी, कि अपना एवज ले लूँगी।'।

अमीरन : 'बहूँ साहब ! तो फिर आपको नहीं चाहिए था। सुमरे की हरम को इतनी जूतियाँ'

बेगम साहबा : 'बुआ ! इन लोगों को यह लिहाज कहाँ ? सच कहूँ मुझे भी यह बात नागवार हुई। उनके मुँह पर कहती हूँ, आज को मुई टकहाई के चलती सुमरे की हरम के जूतियाँ मारों। कल सास कों मारेंगी।'।

अमीरन : 'तहीं, खुदा न करे। मगर हाँ, बात कहते ही मैं आती है।'।

इन दोनों बुढ़ियों ने, बहूँ साहब बेचारी को, ऐसे कौंचे दिये, कि अखिर बेचारी चीखें मार मार के रोने लगी। मेरा यह हाल था, कि ग्रँगारों पर लोट रही थी। जी चाहता था कि दोनों बुढ़ियों का मुँह नोच लूँ।

रुसवा : 'हय हाय ! यह गुस्सा ?

रोकिधेगा जरा तबीयत को,
कहीं ऐसा न हो कि खिपकत हो ?'

उमराव जान : 'मिर्जा साहब ! गुस्से की बात ही थी। एक इन्सान को इतना जलील समझना, इन्सानियत से दूर है।'।

रुसवा : 'मेरे नजदीक तो कोई बात न थी, जिस पर आपको इतना गुस्सा आया। वह दोनों बुढ़ियाँ सच कहती थीं। और लुड्डन की माँ भी बेचारी नाहक पिटी। सच तो यूँ है, कि नाहक अब आप चाहे बुरा मानें, चाहे भला।'।

उमराव जान : 'वाह मिर्जा साहब, आप खूब इसाफ़ करते हैं।'।

रुसवा : 'जी हाँ, मेरे नजदीक इन्साफ़ यही है। इस मुआमला में, आप भी एक हद तक बेहसूर थीं। सारा कुसूर अकबर अली की बीबी का था।'।

उमराव जान : 'उन बेचारी का क्या कुसूर था ?'

रुसवा : 'ऐसा कुमुर था, कि अगर मेरी बीवी ऐसा करती, तो फौरन डोली मेंगवा के मेके भिजवा देता और छः महीने तक मूरत न देखना । अच्छा, एक बात पूछते हैं; अकबर अली खाँ ने जब यह वारदात सुनी तो क्या कहा ?'

उमराव जान : 'लुड्डन की माँ पर खूब चीखे, खूब चिल्लाये । कह दिया, खबरदार ! यह डाघन हमारे घर न आने पाये । कई महीने तक उसका आना जाना मौकूफ रहा । जब बड़े खान साहब आये, तो वह फिर आने लगी । यह किस्सा उनके आगे छेड़ा गया, वह उमरते अकबर अली खाँ की बीवी पर खफ़ा हुए ।'

रुसवा : 'लुड्डे की अकल सही थी ?'

उमराव जान : 'सही थी या सठिया गये थे, जरा लुड्डन की माँ, पाँव दबा दिया करती थी । इसी से उसकी परचक लेते थे । क्यों न परचक लेते, लुड्डन की माँ उनकी पुरानी आशना थी ।'

रुसवा : 'फिर आप ही कायल होइये । यह ऐन वजादारी थी । अच्छा, अब एक बात और बता दीजिये । लुड्डन की माँ जवानी में कोई रंडी थी, या घर गिरस्त ? और बुआ अमीरन कौन थीं ?'

उमराव जान : 'लुड्डन की माँ मुई घनेली थी । जवानी में खराब हो गई थी । बुआ अमीरन एक देहाती औरत थी, उनका मकान संडीला के ज़िला में था । एक जवान बेटा था । वह भी बड़े खाँ साहब के पास नीकर था । एक लड़की थी, वह कहीं बाहर ब्याही हुई थी ।'

रुसवा : 'बुआ अमीरन से और बड़े खान साहब से तो कोई ताल्लुक न था ?'

उमराव जान : 'ना, खुदा को जवाब देना है । अमीरन बड़ी नेक औरत थी । सारा मुहल्ला कहता था, कि वह जवानी में रौंड होकर यहाँ नौकरी को आई थी । उस दिन से किसी ने उसको बद राह नहीं देखा ।'

रुसवा : 'पूरे वाक्यात, आप के बयान से मुझको मालूम हो गये । अब पूछिये, आप क्या पूछती हैं ?'

उमराव जान : 'तो क्या, कोई मुक़दमा, आप फ़ैसला करने बैठे हैं ?'

रसवा : 'बहुत बड़ा मुकदमा ।'

'बात यह है कि औरतें तीन किस्म की होती हैं (१) नेक बख्तें (२) खराबें (३) बाजारियाँ । और दूसरी किस्म की औरतें भी दो तरह की होती हैं । एक तो वह, जो चोरी छिपे ऐब करती हैं । दूसरी वह, जो खुल्लमखुल्ला बदकारी पर उतारू हो जाती हैं । नेक बख्तों के साथ, सिर्फ वही औरतें मिल सकती हैं, जो बदनाम न हो गई हों । क्या तुम्हें इतनी समझ नहीं है, कि वह बेचारियाँ जो तमाम उम्र चार दीवारियों में कैद रही हैं, हज़ारों किस्म की मुसीबतें उठाती हैं । अच्छे वक्त के तो सब साथी होते हैं, मगर बुरे वक्त में, सिर्फ यही बेचारियाँ साथ देती हैं ।

जिस जमाना में इनके शौहर जवान होते हैं, दौलत पास होती है, तो अक्सर बाहर वालियाँ मन्ने उड़ती हैं । मगर मुफ़लिसी और बुढ़ापे के जमाने में कोई पुरसाने हाल नहीं होता । इन वक्तों में, बड़ी तरह-तरह की तकलीफें उठाती हैं और बुरों की जान को सब्र करती हैं । फिर क्या उन्हें इसका कोई फ़ायदा होगा ? यही फ़ायदा इसका वाइस होता है, कि वह खराब औरतों को बहुत ही बुरी निगाह से देखती हैं । इन्तहा का जलील समझती हैं । तोबा से, खुदा गुनाह मुआफ़ कर देता है, मगर यह औरतें कभी मुआफ़ नहीं करती । दूसरी बात यह है, कि अक्सर देखा गया है, कि घर की औरत कैसी खूबसूरत, खूबसीरत और खुशसलीका क्यों न हो, बेवकूफ़ मर्द, बाजारियों पर, जो उनसे, सूरत और दूसरी सिकतों में बदरजहा बुरी हैं, फ़रेफ़ता होकर उन्हें आरज़ी तौर से या उम्र भर के लिये छोड़ देते हैं । इसलिये उनको गुमान क्या, बल्कि यकीन है कि यह किसी न किसी किस्म का जादू टोना ऐसा कर देती हैं, जिससे मर्द की अक्ल में फ़तुर आ जाता है । यह भी उनकी एक किस्म की नेकी है, इसलिये कि वह इस हाल में अपने मर्दों को इल्जाम नहीं देती, बल्कि बदकार औरतों को ही मुजरिम ठहराती हैं । इससे ज्यादा उनकी मुहब्बत की, और क्या दयाल हो सकती है ?'

उमराव जान : 'यह तो सब सही है, मगर मर्द क्यों ऐसे बेवकूफ़ बन जाते हैं ?'

रसवा : 'इसकी वजह यह है, कि इन्सान के मिजाज में जज़्बात पसन्दी है। एक हालत में जिन्दगी बसर करने से, ख्वाह वह कैसा ही अमला क्यों न हो, तबीयत उकता जाती है। वह चाहता है, कि किसी न किसी तरह की बदल बदल उसकी जिन्दगी में पैदा हो। वज़ारियों के साथ मेल जोल पैदा करने में एक क्रिस्म की नई लज्जत मिलती है, जो कभी उसके ख्याल में न थी। यहाँ भी वह एक ही की जान पहचान पर बस नहीं करता, बल्कि नये नयों की तलाश में, रोज नये कमरों पर पहुँचता है और नये घर देखता फिरता है।'

उमराव जान : 'मगर सब मर्द ऐसे नहीं हैं।'

रसवा : 'हाँ। इसकी वजह यह है, कि मेलजोल के क़ानून ने उस मर्द को बुरा बनाया है। जो बख़्त ऐसा करता है, उसके अजीज़, रिश्तेदार, दोस्त, अदाग बुरा भला करते हैं। इस ख़ौफ़ से अक्सर ज़ुरमज़ नहीं होती। मगर ज़ब्र बुरे दोस्तों की सोहबत में बैठने का इत्तिफ़ाक़ होता है, वह तरह तरह की लज्जतों का ज़िफ़ा कर के, एक अजीब क्रिस्म का शौक़, उसकी तबीयत में पैदा कर देते हैं। इसलिये, वह ख़ौफ़ उसके दिल से निकल जाता है। आपको इस बात का अच्छी तरह अन्दाज़ हुआ होगा, कि जो लोग पहले पहल रंड़ी के मक़ान पर जाते हैं, उनको राज़ छिपाने का किस क़दर ख़याल होता है। कोई देखता न हो, कोई सुन न ले। दो आदमियों के सामने बोलने का क्या ज़िफ़ा, अकेले में भी मुँह से बात नहीं निकलती। मगर रफ़ता रफ़ता यह हालत तो बिल्कुल जायल हो जाती है। खुलासा यह, कि चन्द ही रोज़ में, पूरे बेग़ैरत हो जाया करते हैं। फिर क्या है? दिन दिहाड़े, सरे चौक, रंड़ियों के कमरे पर, खट से चढ़ जाते हैं। गाड़ी में खिड़कियाँ खोल के, साथ बैठकर सैर करना, हाथ में हाथ लेके, मेले तमाशों में लिये फिरना, इन सब बातों को बाइसे फ़ख़्र समझने लगते हैं।

उमराव जान : 'यह तो सही है, मगर शहरों में इन बातों को चन्द मायूब नहीं समझते।

रसवा : 'ख़सूसन दिल्ली और लखनऊ में। यही इन शहरों की तबाही और बरबादी का बाइस हुआ। देहात और क़स्बात में, ऐसे शरीर लोगों की

सोहवत कम मिलती है, जो नौजवानों को इन बदकारियों पर आमादा करें । दूसरे, व्ाँ की रंडियों को इस क्रूर ओहदे हासिल नहीं है, इसलिये कि वह रईसों और जमींदारों की ही पाबन्द होती हैं और बहुत डरती हैं । और क्योंकि उनकी रोजी बल्कि जिन्दगी उनके हाथ में है । इसलिये उनकी ओलद से बहुत चोरी छिपे मिलती हैं । और शहरों में तो आजादी है, कौन दबाव मानता है ? इसी का यह नतीजा है ।'

उमराव जान : 'मगर देहाती जब बिगड़ते हैं, तो हद से ज्यादा बिगड़ जाते हैं । मसलन, मियाँ इरशाद अली खाँ का वाक्या आप सुन चुके हैं ।'

रुसवा : 'उसका यह सबव है, कि वह इन लज्जतों से बिल्कुल नाबलद होते हैं । जब उनको इसका चस्का पड़ता है, तो वह उसकी हद से ज्यादा क्रूर करते हैं और अहले-शहर कुछ न कुछ अगाह होते हैं, और इसलिये इनको ज्यादा शौक नहीं होता ।

रुसवा : 'हाँ ! वह आपकी नोची क्या हुई ? ए है, भला सा नाम है ।'

उमराव जान : 'आबादी ।'

रुसवा : 'आबादी की सूरत तो अच्छी थी । मैंने उस वक्त देखा था, जब उसका सिन बारह बरस का था । जवानी में तो और निखर गई होगी ।'

उमराव जान : 'मिर्जा साहब ! आपको खूब याद है ।'

रुसवा : 'याद को क्या चाहिये, वाकई में वह बहुत क़तादर औरत होगी । हम भी इसी नज़र से देखते थे, कि कभी तो जवान होगी ।'

उमराव जान : 'तो यह कहिये, आपभी वी आबादी के उम्मीदवारों में थे ।'

रुसवा : 'सुनो उमराव जान ! मेरी एक बात याद रखना । जहाँ कोई हसीन औरत नज़र पड़े, मुझे जरूर याद कर लेना । अगर मुमकिन हो, तो उम्मीदवारों में नाम लिखवा देना और जो खुदा-न-खास्ता मैं मर जाऊँ, तो मेरे नाम पर क़ातिहा दे देना ।

उमराव जान : 'और अगर कोई मर्द हसीन नज़र आवे, तो ?'

रुसवा : 'अपना नाम उम्मीदवारों में, और मेरा नाम उसकी बहन के उम्मीदवारों में लिखवा देना, बशर्ते कि ऐसा मज़हब में मना हो ।'

उमराव जान : 'क्या खूब ! मज़हब को कहाँ दखल दिया है ।'

रुसवा : 'मज़हब का दखल कहाँ नहीं है । ख़सूसन हमारा मज़हब, जिसमें कोई फ़रोगुज़ाहत नहीं की गई ।

उमराव जान : 'सीधी सी एक बात क्यों नहीं कह देते,

‘शरअन तो जानते हैं, उरफ़न दुश्स्त है’

रुसवा : ‘यह और मौकों पर कहा जाता है । उमराव जान, मेरी जिन्दगी का एक उसूल है । तेक वख़्त औरत को, मैं अपनी माँ बहन के बूराबर समझता हूँ । ख़्वाह वह किसी क्रौम और मिल्लत की क्यों न हो, और ऐसी हालत में मुझे सख़्त सदमा पहुँचता है । जो लोग उसकी पारसाई में खलल अन्दाज़ हों, जो लोग उनको बरग़लाने और बदकार बनाने की कोशिश करते हैं, मेरी राय में, क़ाबिल गोली मार देने के हैं । मगर फ़ैयाज़ औरतों के फ़ैज़ से फ़ायदा उठाना मेरे नज़दीक़ कोई गुनाह नहीं ।’

उमराव जान : सुभान अल्लाह !’

रुसवा : ‘ख़ैर इस फ़जूल बात को रहने दीजिये । आबादी जान का हाल कहिये ।’

उमराव जान : ‘मिर्ज़ा साहब ! अगर आप उनकी ज़बानी के आलम में देखते तो यह शेर आपकी ज़बान पर होता :—

जहाँ होते ही वह तो और ही कुछ हो गये ऐ बिल,

कहाँ की पाकबाज़ी, हम भी अब नीयत बदलते हैं ।

जहाँ होंके उसने वह सूरत निकाली थी, कि सौ पचास रंड़ियों में एक थी ।’

रुसवा : ‘अब क्या हुई, खुदा के लिये जल्दी कहिये ! आख़िर क्या आफ़त हुई, जो आप ऐसी मायूसी के क़लमात कहती हैं ?’

उमराव जान : ‘हम से गई, ज़हान से गई !’

रुसवा : ‘आख़िर अब है कहाँ ?’

उमराव जान : ‘अस्पताल में है और कहाँ है ?’

रुसवा : ‘यह कहिये ज़बानी ने गुल खिलाया ।’

उमराव जान : ‘जी, माशा अल्ला ख़ूब फ़लीं फ़लीं । सूरत बिगड़ गई । रंगत उल्टा तवा हो गई । शरअक़ि सत्तर करम हो गये । अब जान के लाले पड़े हैं ।’

रुसवा : ‘यह हुआ क्या था ?’

उमराव जान : ‘ए होना क्या था, मुई लौंडे घेरी, सिफ़ली, छिछोरी ! मैंने

तो बहुत चाहा कि आदमी बने, मगर न बनी। मैंने क्या नहीं किया ? उस्ताद जी को नौकर रखा। तालीम देना शुरू किया। मगर इसका दीदा ऐसी बातों में कब लगता था। जब से ज्ञान हुई, मैंने कमरा अलहदा कर दिया था। शहर के चन्द ज्ञात जरीफ आ के बैठने लगे। दिन रात गालम गलीच, धींगा मुश्की, जूतम जाता। एक आफ़त बरपा रहनी थी। नाक में दम हो गया था। किसी पर बन्द नहीं, जो आया वारद। मैंने मारा पीटा, समझाया। मगर वह कब सुनती थी। बचपने ही से उसकी निशाह बढ़ थी। इस जमाने में बुआ हुसैनी का नवासा जुम्न आया करना था। उस से खेला करती थी। मैंने यह ख्याल किया, बच्चा हैं, खेलने दो। आखिर कुछ ऐसी बातें औँठ से देनी, कि जुम्न की आमदोरफ़त मौकूफ़ हुई। एक साहब मेरे पास तशरीफ़ लाया करते थे। जरा खुश गुलू थे। मैं गवाया करती थी। उनसे छेड़ छाड़ शुरू की। वह शरीफ़ खानदान तो थे, मगर तबीयत पाजी थी। न मेरा लिहाज किया, न अपनी हैसियत देखी। एक दिन सरेशाम क्या देखती हूँ, द्योड़ी में, बी आबदी से बातें हो रही हैं।

छुट्टन साहब : 'अरी मैं तो तेरी सूरत का आशिक हूँ। हाय आबादी, क्या करूँ, उमराव जान से डरता हूँ।'

आबादी : 'हटो, ऐसी बातें मुझ से न किया करो। डर काहे का ?

छुट्टन ने आबादी के गले में हाथ डाल दिया। 'जालिमा क्या प्यारी प्यारी सूरत है ?'

आबादी : 'फिर तुम्हें क्या ?'

छुट्टन (एक बोसा लेकर) : 'हमें क्या ? जान जाती है। मरते हैं।'

आबादी : 'मुए चार आने तो दिये नहीं जाते, मरते हैं। मियाँ मरते सब को देखा, जनाजा किसी का भी नहीं देखा ?'

छुट्टन : 'चार आने ! जान हाज़िर है।'

आबादी : 'निगोड़ी जान ले के, मैं क्या करूँगी।'

छुट्टन : 'लो, हमारी जान किसी काम की ही नहीं।'

आबादी : 'ले, अब बातें न बनाओ। चवघी जेबमें पड़ी हो तो देते जाओ।'

छुट्टन : 'बत्लाह ! अम्माँ की तनख्वाह नहीं बँटी । परसों जरूर ले आऊँगा ।'

छुट्टन : 'अच्छा तो एक बोसा तो और दे दो ।'

आबादी को छुट्टन ने गले लगाया । आबादी ने उसकी जेब में हाथ डाला । कहीं इत्तिफाक़ से तीन पैसे जेब में पड़े हुए थे, निकाल लिये ।'

छुट्टन : 'तुम्हें हमारे सिर की कसम, यह पैसे न लेना । बाजी ने रंग की पुड़ियाँ और मिस्सी मँगाई है ।'

आबादी : 'तुम्हारे सिर की कसम, मैं तो न दूँगी ।'

छुट्टन : 'आखिर क्या करोगी ? परसों चव्वनी ले लेना ।'

आबादी : 'वाह ! खागीना लेंगे ।'

छुट्टन : 'तीन पैसे का खागीना ? अच्छा एक पैसा लेलो ।'

आबादी : 'तीन पैसे का खागीना कुछ बहुत हुआ ? निगोड़ा बहूत दिन से जी चाहता है । बीवी लेने नहीं देती । कहती हूँ, पेट में दर्द होगा । मैं तो एक दिन छिपा के, एक आने का खागीना खा गई । कुछ भी नहीं हुआ ।'

मैंने दिल में कहा, क्यों न हो, मुई काल की मारी, पेद्र । हम तो जरा भी खा लें, तो बदहजमी हो जाय ।'

रुसवा : 'क्या इसे अकाल में लिया था ।'

उमराव जान : 'जी हाँ ! रुपया को माँ बेच गई थी। तीन दिन की फ़ाक़े से थी, मैंने रोटी ख़िलाई और एक रुपया दिया । मिर्जा साहब मुझे बड़ा तरस मालूम हुआ । मैंने तो कहा था, मेरे पास रह, मगर न रही ।'

रुसवा : 'कमबख्त फिर भी कभी आई थी ?'

उमराव जान : 'जी कई दफ़ा आई । लड़की को देख के बहुत खुश हुई, मुझको दुआयें देती थी । साल में दो एक मर्तबा आ जायाँ करती थी । मुझे से जो कुछ हो सकता, सलूक करती थी । अब कई बरस से नहीं आई । खुदा जाने मर गई, या जीती है ।'

रुसवा : 'जात क्या थी ?'

उमराव जान : 'पासन ।'

रुसवा : 'अच्छा तो वह किस्सा तो रह ही गया । छुट्टन ने चव्वनी दी था

नहीं दी ?'

उमराव जान : 'मेरी जाने बला । छुट्टन के जाने बाद, मैंने मुई को खूब कुचला । पैसे छीन के चौक में उछाल दिये ।'

मेरे कमरे के बराबर एक और छोटा सा कमरा था, कोई दो रुपये महीना किराया का । इसमें एक रंडी आके रही थी । हसना । अभी जवान थी । उसकी और आबादी की परगन खूब मिली । दिन भर वहीं बैठी रहा करती थी । सारी खसलतें हसना की, उसने अख्तियार कर लीं ।'

जैसी वह रंडी थी, वैसे ही उसके आशना । कोई पाव भर पूरियाँ तेल की लिए चला आता है । दूसरा पचास धाम, दो आने सैंकड़ा के लेता आया । किसी से दो गज नैसून की फरमाइश है । किसी से मखमली बूट की फरमाइश है । मेले तमाशे में दो चार गुणों साथ हैं । बड़े बड़े साके बाँवे हुए, कक्रदार कुर्ने या अँगरखे, कोई धोती में है, कोई चुस्त छुट्ना डंटे है । हाथ में लट्ट है गले में हार पड़े हुए । बी हसना, ठुमक ठुमक उनके साथ चल रही हैं । हिरन वाली सराय में एक बोतल ठरें की उड़ी । वहाँ से चले, तो भूमते भामते लड़बड़ते, नाचते गाते । बी हसना, अभी उसकी बगल में थीं, अभी इसके गले में हाथ । सरे राह गालम गलौच, नोचम खसोट, जूतम जाता हो रहा है । इस हालत में दो एक तो रास्ते ही में गिर पड़े । तीन चार मेले तक पहुँचे, वहाँ चरस पर दम पड़े । इनमें से जो कोई होशियार हुआ, उसने बी हसना को गाँठ लिया । और यारों को धता बताई, अपने घर ले गया । या उन्हीं के कमरे पर आ के ठहरा । और यार जब मेले से पलट के आए, कमरे के नीचे खड़े चीख रहे हैं, या गालियाँ दे रहे हैं और ढेले मार रहे हैं । बी हसना अग्निल तो कमरे में नहीं, और हैं भी, तो बोलें क्यों ? इतने में कोई सिपाही चला आया । उसने मजसा खिलाफ को हटाया । सब अपने अपने घर को चले गए ।

बस, यही अन्दाज़ आबादी भी चाहती थी । भला मैं इसकी कब रवादार होती । आखिर हुसैन अली के साथ, मेरे पास एन नवाब साहब आया करते थे, उनके खिदमतगार का नाम था, निकल गई । उसके घर जा के बैठ रही । वहाँ उसकी जोरू ने कयामत बरपा की, घर से निकल गई । मियाँ हुसैन अली

इन पर लट्ठू थे। बीबी के निकल जाने की उन्हें कोई परवाह न हुई। मगर मुश्किल यह दरपेश हुई, कि अब खाना कौन पकावे। बी आबादी को चूल्हा फूँकना पड़ा। यह इसकी कब आदी थी। बहर तीर चन्द रोज़ यूँ गुजरे, यहीं एक बच्चा जनी। खुदा जाने हुसैन अली का था, या किसी और का। दो महीना का होके, वह बच्चा जाता रहा। उधर हुसैन अली की जोरू ने रोटी कपड़ा का दावा किया। डेढ़ रुपया महीना की डिग्री हुई। तीन रुपया नवाब देते थे, डेढ़ रुपया में क्या होता? ऊपर की ग्रामदनी पर बसत थी। उसमें भी कुछ न चली। बी आबादी किसी कदर चटोरी भी थीं। आखिर मियाँ हुसैन अली के घर से निकल के, मुहल्ले के एक लड़के के साथ भागीं। उसकी माँ पठनी कुटनी, बड़े मशहूरों में थी। जहाँ दो चार लुकन्दरियाँ और रहती थीं, वहीं इनका ठिकाना हो गया। बी पठानी की रोज़ी में किसी कदर और बढ़ी हुई। मुन्ते बराए नाम रह गए। मियाँ मुन्ते के एक पीर भाई मियाँ सम्रादत, पठानी को बुल दे के ले उड़े। यह अपनी माँ के पास ले गए। इनकी वालिदा को मुर्गियों से शौक था। मकान के पास एक तक्रिया था, वहाँ मुर्गियाँ चरा करती थीं। बी आबादी, उनकी हिफ़ाज़त पर मुक़रर हुईं। मियाँ सम्रादत, किसी कारख़ाने में काम करते थे, दिन भर वहाँ चले जाते थे, यह मुर्गियाँ हँकाया करती थीं। वहाँ उन्होंने मुहम्मद बख़्श, कल्लो कुँजड़न के लड़के से, राहो-रस्म पैदा कीं, बल्कि सम्रादत की माँ ने यह मुआमला देख भी लिया। बेटे से कहा। उसने खूब जूते मारे। मियाँ मुहम्मद बख़्श के एक और यार थे, मियाँ अमीर। नवाब अमीर मिर्जा के खिदमतगारों में नौकर थे। वह फ़ने तमाशबीनी में एक थे। वह उड़ा ले गए। उन्होंने एक मकान में ले जाके रखा। यहाँ और यारों का मजमा भी रहता था। बी आबादी सब की दिल-जोई में मसरूफ़ रहती थीं। इसी ज़माने में, नहीं मालूम किसकी वरकत से, खूब फलीं फूलीं। अब मियाँ अमीर के किस काम की थीं। उसने उठवा के अस्पताल में फिकवा दिया। इस वक़्त वही तशरीफ़ रखती हैं। अगर आप फ़रमाइए, तो यहाँ बुलवा दी जायें।

रसवा : 'मुझे तो मुआफ़ ही रखिये।'

इक्कीस

‘हाथ आई मुराद मुँह माँगी ,
दिल ने पाई मुराद मुँह माँगी ।’

रजब की तीचन्दी थी। कुछ बैठे-बैठे मेरे दिल में आई, चलो दरगाह चलो, जयारत ही कर लें। सरे शाम सवार होके पहुँचे। बड़ी भीड़ थी। पहले तो मैं, मर्दानी दरगाह के सेहन में इधर उधर ठहला की। फिर जाके शमें जलाई, हाजरी चढ़ाई। एक साहब मरसिया पढ़ रहे थे, उन्हें सुना। फिर एक मौलवी साहब आये। उन्होंने हदीस पढ़ी। इसके बाद मातम हुआ। अब लोग अपने-अपने घरों को चलने लगे। मैंने भी जयारते ख़सती पढ़ के वापसी का इरादा किया। दरवाजे तक पहुँच के जो मैं आया, जानानी दरगाह में होती चली। नौहा ख़ानी की शोहरत और नवाब मलका क़िसवर की सरकार से रसाई की वजह से, अक्सर औरतें मुझको जानती थीं। इसी वजह से मुलाकातें हो जायेंगी। सवार होके चौपहले पर पर्दा डाल के जानानी दरगाह के दरवाजे पर पहुँची। महलदार ने आके सवारी उतरवाई। अन्दर गई। मेरा खयाल शलत न था। अक्सर औरतों से सामना हुआ। शिकवे, शिकायतें, सदर के हालात, इधर उधर की बातें हुआ कीं। बड़ी देर हो गई। मैं वापस आने ही को थी, कि इतनी देर में क्या देखती हूँ, कि दाहिनी तरफ़ की सेहनची से, कानपुर वाली बेगम साहबा चली आती हैं। बड़े ठाठ हैं, तोलवाँ जोड़ा पहने हुए, चार पाँच महारियाँ साथ हैं। एक पायचे सँभाले हुए है, एक के हाथ में पंखा

है, एक लोटिया खासदान लिये हुए है। एक के पास सेनी में तबस्कात हैं। मुझे देखते ही दूर से दौड़ें। कंधे पर हाथ रख दिये।

बेगम : 'अल्ला उमराव ! तुम तो बड़ी बे-मुरौबत हो। कानपुर से जो गायब हुई हो, तो आज मिली हो। वह भी इत्तिफाक से।'

मैं : 'क्या कहूँ, जिस दिन आपके बाग में रात को रही थी, उसी दिन सुबह को, लखनऊ से लोग आके, मुझे पकड़ के लखनऊ ले गये। फिर भागड़ हुई। खुदा जाने कहाँ-कहाँ मारी-मारी फिरी। न मुझे आपका पता था, न आपको मेरा हाल मालूम था।'

बेगम : 'खैर, अब तो हम तुम दोनों लखनऊ में हैं।'

मैं : 'लखनऊ कैसा ? इस वक्त तो एक ही मुकाम पड़ है-।'

बेगम : 'इसकी सनद नहीं। तुम्हें तो मेरे मकान पर आना होगा।'

मैं : 'सिर आँखों से, मगर आप रहती कहाँ हैं ?'

बेगम : 'चौकटियों पर। नवाब साहब को कौन नहीं जानता ?'

मैं पूछने ही को थी, कि कौन नवाब साहब कि इतने में एक महरी बोल उठी, 'नवाब महमूद तक़ी खाँ का मकान कौन नहीं जानता ?'

मैं : 'आने को तो आऊँ, मगर नवाब साहब के खिलाफ़ न हो।'

बेगम : 'नहीं, वह इस तबीयत के आदमी नहीं हैं। और फिर तुम्हारे वास्ते, मैंने उस रात का हाल, रत्ती-रत्ती उनसे कहा था। उन्होंने तो खुद कई मर्तबा कानपुर में ढुँढ़वाया। अक्सर पूछते रहते हैं।'

मैं : 'अच्छा, तो ज़रूर आऊँगी।'

बेगम : 'कब आओगी ? वादा करो।'

मैं : 'अब की जुमेरात को हाज़िर हूँगी।'

बेगम : 'ओहो ! यह जुमेरात की अरवाह तुम कब से हो गई ? अभी तो पूरे आठ दिन हैं। इधर ही क्यों नहीं आती ?'

मैं : 'अच्छा, तो अगली पीर को आऊँगी।'

बेगम : 'इतवार को आओ। नवाब भी घर में होंगे। पीर के दिन शायद किसी अंगरेज़ से मिलने जायें।'

मैं : 'मुनासिब है, इतवार को सही ।'

बेगम : 'किस वक्त आओगी ?'

मैं : 'जिस वक्त कहिये । मुझे घर पर कोई काम नहीं । हर वक्त बराबर है ।'

बेगम : 'तुम कहाँ रहती हो ;'

मैं : 'चौक में, सैयद हुसैन के फाटक के पास ।'

बेगम : 'अच्छा तो मैं महरी को भेजूँगी, उसी के साथ चली आना ।'

मैं : 'बहुत अच्छा ।'

बेगम : 'अच्छा तो खुदा हाफिज ।'

मैं : 'अच्छा हाँ, यह तो कहिये साहबजादा कैसा है ?'

बेगम : 'नब्बन, माशा अल्ला अच्छा है । लो अब तुमने याद किया ।'

मैं : 'क्या कहूँ, बातों में कैसी भूली ? और भूली क्या, जब चाहती थी पृच्छें, एक न एक बात निकल आती थी ।'

बेगम : 'अब तो सलामती से ज़रा होश सँभाला है । अच्छा, उस दिन उसे भी देख लेना ।'

मैं : 'रात की नींद हराम । तो, अब कुछ न कहिये । खुदा हाफिज ।'

बेगम : 'खुदा हाफिज । देखो ज़रूर आना ।'

मैं : 'ऐसी बात है ।'

इतने में महरी ने देखा, कि बातों का सिलसिला फिर चला, कहने लगी, 'बेगम साहबा चलिये, देर से कहार गुल मचा रहे हैं । सवारी लगी है ।'

बाईस

हरचन्द बहुत गौर किया हमने शबोरोज,
दुनिया का तिलिस्मात समझ में नहीं आता ।

मैं खानम से अलहदा हो गई थी, मगर जब तक वह जीती रहीं, अपना सरपरस्त समझा की । और सच है कि उन्हें भी मुझ से मुहब्बत थी । उनके पास इस कदर दौलत थी, कि तबीयत गनी हो गई थी । सित, जो ज्यादा हो गया था, तो दुनिया की तरफ से उनकी तबीयत फिर गई थी । अब उनको किसी की कमाई से कुछ मतलब न था । मगर मुहब्बत उसी तरह करती थीं । वह अपने जीते जी किसी तोची को अपने से जुदा न करती थीं । मुझ से तो उनको खास मुहब्बत थी । विस्मिल्ला ने उनको बहुत आज़ार दिये, इसलिये उन्हें, उससे नफ़रत सी हो गई थी, लेकिन फिर भी आँलाद थी । खुरशीद जान भी ग़दर के बाद आ गई थीं । वह खानम के पास रहती थीं । अमीर जान ने अलग कमरा ले लिया था, मगर वह भी आज़ी जाती रहती थीं ।

जो कमरा खानम ने मुझे दिया था, वह उनकी ज़िन्दगी भर मुझसे खाली नहीं कराया गया । मेरा असबाब उसमें बन्द रहता था । मेरा ताला लगा था । जब जी चाहता था, वहीं जाके रहती थी । साल भर कहीं भी रहूँगी, मगर मुहर्रम में ताज़ियादारी वहीं करती थी । मेरे नाम का ताज़िया खानम मरते दम तक रखा की ।

जुमेरात को बेगम से मुलाकात हुई थी, जुमा को आदमी आया, कि खानम की तबीयत कुछ अलील है, तुम्हें याद करती हूँ । मैं फ़ौरन सवार हो के गई । उन्हें देखकर घर पर वापस आने का इरादा किया, कि जी में आया कि एक

भारी जोड़ा निकालती लेती चली । कमरा खोला । देखा, कमरे में चारों तरफ जाले लगे हैं, पलंग पर मनो गद पड़ी है, फर्श फरक उलटा पड़ा है, इधर उधर कूड़ा पड़ा है । यह हाल देख के मुझे अने अगले दिन याद आये । अल्ला, एक दिन वह था, कि यह कमरा हर वक्त कैसा सजा सजाया रहता था । दिन में चार मर्तबा भाड़ू होती थी । बिछौने भाड़े जाते थे । गर्द का नाम न था । तिनका तक कहीं दिखाई न देता था । या अब यह हाल है, कि दम भर कहीं बैठने को जी नहीं चाहना । वही पलंग, जिस पर मैं सोती थी, अब उस पर कदम रखने हुए कराहत मालूम होती थी । आदमी साथ था, मैंने उससे कहा, 'जरा जाले तो ले ले ।' वह एक सेंग कहीं से उठा लाया, जाले लेने लगा । इतनी देर में मैंने अपने हाथ से दरी उलटी । आदमी ने और मैंने मिल के दरी बिछाई । चाँदनी को ठीक किया । जय फर्श दुल्हा हो गया, तो मैंने पलंग के बिछौने उठवा के भड़वा दिये । कोठरी में से सिंगारद न, पानदान, उगालदान उठा लाई । सब चीजें अपने अपने करीने से लगा दीं, जिस तरह कि किसी जमाने में लगी रहती थीं । खुद तकिया लगा के बैठी । आदमी के पास खास-दान था, पान ले के खाया । आईना सामने रख के मुँह देखने लगी । अगला जमाना याद आ गया । शशाव की तस्वीर आँखों में फिर गई । उस जमाने के कदरदानों का तसव्वुर बँध गया । गौहर मिर्जा की शरारत, राशद अली की हिमाकत, फ़ैजू की मुहब्बत, सुलतान साहब की सूरत, गरजकि, जो जो साहब इस कमरे में आए थे, मय अपने अपने खसूसियात के मेरे पेशेनज़र थे । वह कमरा इस वक़्त फ़ातूसे-ख़याल बन गया था । एक तस्वीर आँख के सामने आती थी, और ग़ायब हो जाती थी । फिर दूसरी सामने आती थी । जब कुल सूरतें नज़र से गुज़र गईं, तो यह दौरा नये सिर से फिर शुरू हुआ । फिर वही सूरतें, एक दूसरे के बाद पेश आईं । पहले तो ऐसे दौरें जल्द जल्द हुए । अब ज़रा वक़फ़ा होने लगा । अब मुझको हर तस्वीर पर ज्यादा फ़िक्र करने का मौक़ा मिला । जो वाक़यात, जिस शख्स के मुतालिक थे, उन पर तफ़सीली नज़र आती थी । अब हर तस्वीर से बहुत सी निकलीं और फ़ातूसे ख़याल की लम्बाई चौड़ाई बढ़ने लगी । तमाम ज़िन्दगी में जो कुछ देखा, सब निगाह के सामने था । इस

अरुना में एक मर्तबा, सुलतान साहब का फिर खयाल आया, तो इसके साथ ही पहले मुजरे का तमाम जलसा जिसमें सुलतान साहब को देखा और दूसरे दिन उनके खिदमतगार का आना, फिर उनका खुद तशरीफ लाना, मजे मजे की बातें, शेरो-सखुन का चर्चा, खान साहब का बीच में टपक पड़ना, बदज़बानी करना, सुलतान का तमन्ना मारना, खान साहब का गिर पड़ना, शमशेर खाँ की जानिसारी, कोतवाल का आना, खाँ साहब का घर भिजवाना, सुलतान साहब का न आना, महफिल में उनको देखना, लड़के के हाथ रुक्का भेजना । फिर अज सरे नी रस्म होना, नवाज़गंज के जलसे । यह सब वाक्यात, इस तरह से मालूम होते थे जैसे कल हुए हैं । यह दौरे बराबर चल रहे थे । मगर जब पहले मुजरे के बाद सुलतान साहब के आदमी का पयाम ले के आना याद आता था, तबीयत कुछ रुक सी जाती थी । ऐसा मालूम होता था, जैसे इस मौका पर कुछ छूट जाता है । इतने में आदमी ने ज़ोर से चीख मारी ।

आदमी : 'बीबी ! देखिये वह कनखजूरा आपके दोपट्टे पर चढ़ा जाता है ।'

मैं उई कह के उठी, जल्दी से दोपट्टा उतार के फैंक दिया । अलग जा खड़ी हुई । आदमी ने दोपट्टा उतार के भाड़ा । कनखजूरा पट से गिरा और रँग के पलँग के सिरहाने पाए के नीचे घुस गया । आदमी ने पलँग का पाया उठाया । अब जो देखते हैं, तो पाए के नीचे पाँच अशक़ियाँ बराबर बिछी हुई हैं ।

आदमी (बहुत ही मुतअज्जब होके) : 'हाय ! यह लीजिये । यह क्या ?'

मैं (दिल में) : 'आहा यह वह अशक़ियाँ हैं । (आदमी से) अशक़ियाँ हैं ?'

आदमी : 'वाह ! अशक़ियाँ यहाँ कहाँ से आई ?'

मैं (हँस के) : 'वह कनखजूरा अशक़ियाँ बन गया । अच्छा, उठा लो ।'

आदमी पहले तो ज़रा भिन्नका, फिर पाँचों अशक़ियाँ मुझे उठा के हवाला कीं ।'

रुसवा : 'तो क्या खानम का मकान शहर में नहीं लुटा ।'

उमराव जान : 'लुटा क्यों नहीं ? मगर फ़ज्र कर लीजिए, कि मेरे पलँग का पाया, किसी ने उठा के नहीं देखा ।'

रुसवा : 'मुमकिन है ।'

तेईस

किसी तरह से हो तसल्लीने शौक, कैसा रश्क,
मिलेंगे आज हम उनसे, रक्तीब से मिल के।

इतवार के दिन, आठ बजे सुबह को, बेगम साहबा की महरी, फ्रीनस और कहार ले के, सिर पर सवार हो गईं। मैं अभी सो के उठी थी। अच्छी तरह हुक्का भी न पीने पाई थी, कि उसने जल्दी मचाना शुरू कर दी। मैं समझी थी, खाना वाना खा के जाना होगा। महरी ने कहा, 'बेगम साहबा ने अपने सिर की कसम दी है, कि खाना यहीं आ के खाना। मैंने पूछा, 'जवाब साहब घर पर हैं?' उसने कहा, 'नहीं, सुबह से उठ के गाँव गये हैं।' मैंने पूछा, 'कब तक आयेंगे।' महरी ने कहा, 'अब आयें तो शाम को आयें।' मुझे बेगम से बहुत सी बात करनी थीं, इसलिए फ्रीनस उठ बैठी। हाथ मुँह धो के, कंधी चोटी कर, कपड़े पहन, एक मामा को साथ ले के रवाना हो गईं।

जा के जो देखा, बेगम साहबा मुस्तज़र बैठी हैं। मेरे जाने के साथ ही दस्तरख्वान बिछा। मैंने और बेगम साहबा ने साथ बैठ के खाना खाया। बहुत तकल्लुफ का खाना था। पराँठे, कोरमा, कई तरह का सालन, बालाई, महीन चावल का खश्का, नौरतन चटनी, सेब का मुरब्बा, हलवा सोहन। खाना खा के छुपके से मेरे कान में :—

बेगम : 'क्यों, वह करीम के घर की अरहर की दाल और जुआर की रोटियाँ भी याद हैं?'

मैं : 'चुप भी रहो, कोई सुन न ले ।'

बेगम : 'सुन लेगा तो क्या होगा ? क्या कोई जानता नहीं । नवाब की माँ ने, खुदा जन्नत नसीब करे, मुझे नवाब के लिये मोल लिया था ।'

मैं : 'बराए खुदा चुप रहो, कहीं अलहदा चलो, तो बातें होंगी ।'

खाना खा के हाथ मुँह धोया । पान खाया, महरी ने हुक्का ला के दिया ।

बेगम ने सबको बहाने से टाल दिया ।

मैं : 'बारे, तुमने मुझे पहचान लिया ।'

बेगम : 'जब तुम्हें पहले पहल कानपुर में देखा था, उसी दिन पहचान लिया था । पहले तो बड़ी देर तक उलझन सी ही थी । दिल में कहती थी मैंने इन्हें कहीं देखा है, मगर कहाँ देखा है ? यह कुछ याद नहीं आता । चारों तरफ ल्याल दौड़ाती थी, कुछ समझ ही नहीं आता था । इतने में करीमन महरी पर नज़र पड़ी । करीमन के नाम पर मूँडी काटे, करीम का नाम आ गया । दिल ने कहा, कि ओ हो हो, इन्हें करीम के मकान पर देखा था ।

मैं : 'मेरा भी यही ल्याल था । बड़ी देर तक गौर किया की । मेरी साथ वालियों में एक खुरशीद है, उसकी सूरत तुमसे बहुत मिलती है । जब मैं खुरशीद को देखती थी, तुम याद आ जाती थीं ।'

बेगम : 'अब मेरा हाल सुनो ।

मैं, जब तुमसे जुदा होके नवाब साहब की माँ, नवाब उम्दातुनिशा बेगम साहबा के हाथ बिकी हूँ, तुम्हें याद होगा, मेरा सिन कोई बारह बरस का होगा । नवाब को सोलहवाँ बरस था । नवाब के अब्बाजान कानपुर में रहते थे । बेगम साहबा से, उनसे नाइत्तिफ़ाक़ी रहती थी । नवाब साहब के अब्बाजान ने, नवाब की शादी, अपनी बहन की लड़की के साथ ठहराई थी । उनका मकान दिल्ली में था । बेगम साहबा को वहाँ शादी करना मंज़ूर न था । वह यह चाहती थीं, कि नवाब की शादी, उनके भाई की लड़की के साथ हो । मियाँ बीवी में, पहले ही से नाइत्तिफ़ाक़ी थी । इस बात से और ज़िदें बढ़ीं । अभी यह भगड़ा तय न हुआ था, कि नवाब के दुश्मनों की तबीयत कुछ

नासाज थी। हकीमों ने तजवीज किया कि बहुत जल्द शादी कर देना चाहिये, वरना जानून हो जायेगा। शादी हो जाना किसी तरह मुमकिन न था। इतने में, मैं पहुँच गई। बेगम साहबा ने मुझे खरीद लिया।

नवाब साहब मुझे पर मायल हो गये और ऐसे मायल हुए, कि दोनों जगह की शादी से खुल्लम खुल्ला इन्कार कर दिया। थोड़े दिनों के बाद खुदा का करना ऐसा होता है, कि बेगम साहबा ने इन्तिकाल किया और इसके चंद ही साल बाद, बड़े नवाब भी मर गये। माँ बाप, दोनों साहबे जायदाद थे। यही एक इकलौते लड़के थे। कुल दीलत इन्हीं को मिली।

नवाब साहब को खुदा सलामत रखे, जिनकी वदीलत बेगम साहबा बनी हुई हैं, और ऐश करती हैं। नवाब साहब, मुझे उसी तरह चाहते हैं, जैसे कोई अपने सेहरे जलवे की बीबी को चाहता हो। मेरी जाहिर में तो किसी तरफ़ निगाह उठा के भी नहीं देखा। यूँ बाहर अपने दोस्त आशनाओं में जो कुछ चाहते हों, करने हों। आखिर मर्द जात हैं। कुछ मैं उनके पीछे तो फिरती नहीं।

खुदा ने सब आरजूएँ मेरी पूरी कीं। श्रीलाद की हवस थी, खुदा के सद्क़े से श्रीलाद भी है। अब अगर आरजू है, तो यह है, कि खुदा बब्बन को परवान चढ़ाये। बहू ब्याह के लाऊँ और एक पोता खिलाऊँ। फिर चाहे गर जाऊँ। नवाब के हाथों, मिट्टी अज़ीज हो जाये। अब तुम अपना हाल कहो।

जब रामदेई यह बातें कह रही थी, मुझे अपनी किस्मत पर अफ़सोस आ रहा था और दिल ही दिल में कहती थी, तक्रदीर हो, तो ऐसी हो। एक मेरी फ़टी तक्रदीर। बिक्री भी तो कहाँ? रंडो के घर में।

इसके बाद मैंने अपना मुहत्सर हाल कह सुनाया, जिससे आप बलूबी वाकिफ़ हैं। मैं दिन भर वहीं रही। जब तख़लिया की बातें हो चुकीं, तो नौकरों को आवाज़ दी। तबला की जोड़ियाँ, सितार, तम्बूरा, यह सब सामान संगबाया। गाने बजाने का जलसा हुआ।

जब हम दोनों अकेले थे, तो वह रामदेई थीं और मैं अमीरन। सब लोगों

के सामने, वह फिर बेगम साहबा हो गईं, और मैं उमराव जान । तीन चार घण्टे तक गाना बजाना होता रहा । बेगम भी किसी क्रम में सितार बजा लेती थीं । जब मैं गा चुकती थी, तो वह सितार की कोई गत छेड़ देती थीं । एक मुगलानी का गला बहुत अच्छा था । उसको गवाया । सरे शाम तक बड़े लुत्फ की सोहबत रही ।

चौबीस

हाँ, ऐ निगाहें शोक, मुनासिब है एहतिधात,
ऐसा न हो, कि बरम में चर्चा करे कोई।

करीब शाम, महल में नवाब साहब की आमद आमद का गुल हुआ। वह बेतकल्लुफी की सोहबत बरहम हो गई। तबले को जोड़ी, सितार, तम्बूरा, सब चीजें हटा दी गईं। छिपने वालीयाँ, उठ-उठ के पर्दों में जाने लगीं, और सब लोग अपने-अपने करीने से हो गये। मैं भी बेगम से अलग हो के, मकता बन के बैठ गई। जिस दालान में हम लोग बैठे थे, वहाँ से दरवाजा का सामना था। पर्दा पड़ा हुआ था। नवाब के इन्तज़ार में उस पर्दे की तरफ़ निगाहें लगी हुई थीं। मैं भी उसी की तरफ़ देख रही थी। इतने में किसी खिदमतगार ने चिल्ला के कहा, 'नवाब साहब आते हैं।' चंद लमहे के बाद महरी ने पर्दा उठा के कहा, 'बिस्मिल्ला अररहमान अररहीम', नवाब अन्दर दाखिल हुए।

मैं (सूरत देखते ही दिल में) वही तो हैं, सुलतान साहब। किस मौके पर सामना हुआ है। नवाब की निगाह मुझ पर पड़ी, पहले उन्हीं की तरफ़ देख रही थी।

मैं देखता हूँ जो उनकी तरफ़ तो हैरत है,

मेरी निगाह का वह इसतराब देखते हैं।

अब नवाब दालान के करीब पहुँच गये और मेरी ही तरफ़ देखते जाते थे कि,

बेगम : 'ऊई, नवाब, देखते क्या हो ? वही हैं उमराव जान, मैंने तुमसे इन्हीं का तसखरा किया था ।'

अब फ़र्श के करीब पहुँच गये । सब ताजीम को उठ खड़े हुए । नवाब मसनद पर, बेगम के पहलू में, एक ज़रा सरक के बैठ गये ।

अब शाम हो गई थी । महरी ने दो सफ़ेद कँवल, रोशन करके सामने रखे । बेगम पान बनाने लगीं । इस अरसा में नवाब ने आँख बचा के मेरी तरफ़ देखा । मैंने कनखियों से उन्हें देखा । अब न वह कुछ कह सकते हैं, न मैं बोल सकती हूँ । मुँह से बोलने का मौक़ा न था । मगर इस वक़्त आँखें ज़बान का काम दे रही थीं । शिकवे शिकायत, सब इशारों में हुप्रा किये ।

नवाब (किसी क़दर अजनबियत से) : 'उमराव जान साहब ! वाक़ई हम तो आपके बहुत ही ममनूत है । वाक़ई कानपुर में, उस सब की तुम्हारी वजह से हमारा घर लुटने से बच गया ।'

मैं : 'यह आप मुझे काँटों में क्यों घसीटते हैं । एक इत्तिफ़ाकी अमर था ।'

नवाब : 'खैर जो कुछ हो, वजह तुम्हारी थी । खैर असबाब तो वहाँ कुछ न था, मगर एक बड़ी ख़रियत हो गई, तमाम ज़रूरी कागज़ात कोठी में भोज़ूद थे ।'

मैं : 'यह हुआ उन दिनों जंगल में औरतों को छोड़ के कहाँ गये थे ?'

नवाब : 'क्या कहूँ ? ऐसी ही मजबूरी थी । लज़नऊ की जायदाद बादशाह ने ज़ब्त कर ली थी । लाट साहब के पास कलकत्ता जाना ज़रूरी था । ऐसी जल्दी में गया था, कि न कुछ सामान किया, न लिया न दिया । सिर्फ़ शमशेर ख़ाँ और एक आदमी साथ ले के चला गया ।'

मैं : 'वह कोठी ऐसे जंगलों में है, कि जो बारदात न हो, ताज्जुब है ।'

नवाब : 'सिवाय इत वाक़या के और कोई बारदात कभी नहीं हुई । वजह यह थी, कि शहर होने को था । बदमाशों ने सिर उठाया था, मुल्क में अन्धेर मचा था ।

इसके बाद और इधर उधर की बातें हुआ कीं । फिर दरदरख़वान बिछा । सब ने साथ मिल के खाना खाया । जब हुक्का पान से फ़रागत हो चुकी, तो

तो नवाब ने गाने की फरमाइश की । मैंने यह गज़ल शुरू की,
 मरते मरते न क़त्ला याद आई,
 उसी काफ़िर की अदा याद आई ।
 तुम को उलफ़त न अदा याद आई,
 याद आई तो जफ़ा याद आई ।
 हिज़ा की रात गुज़र ही जाती,
 क्यों तेरी जुल्फ़ें रसा याद आई ।
 तुम जुदाई में बहुत याद आये,
 मौत तुम से भी सिवा याद आई ।
 चारागर, ज़हर मोंगा बे थोड़ा,
 ले मुझे अपनी दवा याद आई ।

और शेर याद नहीं—

बरसात के दिन हैं, पानी छमाछम बरस रहा है, आमों की फ़सल है, मेरे कमरे में मजमा है । बिस्मिल्ला जान, अमीर जान, बेगा जान, ख़ुरशीद जान रंडियों में । नवाब बब्बन साहब, नवाब छब्बन साहब, गौहर मिर्जा, आशिक़ हुसैन, तफ़्ज़ुल हुसैन, अमज़द अली, अकबर अली खाँ मर्दों में । यह सब साहब मौजूद हैं । गाना हो रहा है । इतने में,

बिस्मिल्ला : 'भई होगा । गाना तो रोज़ हुआ करता है । इस वक़्त तो कढ़ाई चढ़ाओ । कुछ पकवान पकवाओ । देखो, कैसा मेंह बरस रहा है ।'

मैं : 'ऊँह, बाज़ार से जो जी चाहे मँगवालो ।'

ख़ुरशीद : 'बाज़ार से मँगवालो, यह ख़ूब कही । अपने हाथ के पकाने में मज़ा ही और है ।'

अमीरन : 'बहन ! तुम्हें हँडिया ठोंकने का मज़ा है ; हमने न तो कभी पकाया है, न पकाने की क़दर जानते हैं ।'

बेगा : 'तो फिर, वही बाज़ार की ठहरी ।'

मैं : 'ए है बाजी, क्या भूखी हो ?'

बेगा : 'मैं तो भूखी नहीं हूँ । बिस्मिल्ला से पूछो । उन्होंने सलाह दी थी ।'

बिस्मिल्ला : 'भई कुछ न कुछ तो आज होना ही चाहिये ।'

मैं : 'बताऊँ ! चलो बरखी के तालाब चलें ।'

बिस्मिल्ला : 'हाँ भई क्या बात कही है ।'

खुरशीद : खूब सैर होगी ।'

वेगा : 'हम भी चलेगे ।'

मैं : 'अच्छा तो सामान करो ।'

बात करते में तीन गाड़ियाँ, किराया पर आ गईं । खाने पकाने का सामान गाड़ियों पर लदवाया गया । दो छोलदारियाँ, नवाब बब्बन साहब के घर से आ गईं । सब गाड़ियों पर सवार होके रवाना हो गये । गोमती पार पहुँच के गाना शुरू हुआ । उस दिन वेगा जान का गाना :—

भूला किन डारो रे अमराइयाँ !

क्या क्या ताने ली हैं कि दिल पिसा जाता था ।

शहर से निकल के जंगल का समूँ, काविले दीद था । जिधर निगाह जाती है, सब्जा ही सब्जा नज़र आता है । बादल चारों तरफ घिरे हुए हैं । मेंह बरस रहा है । दरखतों के पत्तों से पानी टपक रहा है । नाले नदियाँ भरी हुई हैं । मोर नाच रहे हैं । कोयल कूक रही है । बात कहते में तालाब पर पहुँच गये । बारादरी में फ़र्श किया गया । चूल्हे बन गये । कढ़ाईयाँ चढ़ गईं । पूरियाँ तली जाने लगीं । नवाब छुट्टन साहब बरसाती पहन के शिकार को निकल गये । गौहर मिर्जा आमों की ख़ाँचियाँ चुका लाये । इतनी देर में नौकरों ने, सड़क के किनारे, बाग में छोलदारियाँ गाढ़ दीं । गाँव से चारपाईयाँ आ गईं । यहाँ और ही लुत्फ था । आम टपक रहे हैं, एक एक आम पर चार चार आदमी दूते पड़ते हैं, पानी में छपके लगा रहे हैं ।

कोई इधर दौड़ा जा रहा है, कोई उधर । आपस में धींगा मुश्ती हो रही है । अब अगर इसमें कोई गिर पड़ा, तो कीचड़ में लत पत । थोड़ी देर पानी में जा के खड़े हो गये । फिर वैसे ही साफ़ । जिनके मिजाज में किसी क़दर एह-तियात थी, जैसे बाजी वेगा जान, वह छोलदारी में बैठी रहीं ।

बिस्मिल्ला ने पीछे से जा के मुँह पर आम का रस मल दिया । फिर

उनकी चीखें और सब का कड़कहा लगाना, देखने का तमाशा था ।

नहीं मालूम, कहाँ से बहती बहाती, तीन नटनियाँ आ निकलीं । उनको गवाना शुरू किया । उनके साथ का ढोलकी वाला, ग़ज़ब की ढोलकी बजाता था । भला उनका नाच गाना, हम लोगों को क्या अच्छा मालूम होता । मगर इस मौसम में और वैसी जगह कुछ ऐसा नामुनासिब न था । दो बड़ी दिन रहे, हमारी क्रिस्मत से आसमान खुल गया । धूप निकल आई । हम लोग एहति-यातन एक एक जोड़ा घर से लेते आये थे । सब ने कपड़े बदले । जंगल की सैर को निकले ।

मैं भी, अकेली, एक तरफ़ को खाना हुई । सामने गुन्जान दरख्त थे । सूरज इन्हीं गुन्जान दरख्तों की आड़ में डूब रहा था । सब्जे पर सुनहरी किरणों के पड़ने से, अजीब कैफ़ियत थी । जा बजा, जंगली फूल खिले थे । चिड़ियाँ, सब्जे की तलाश में इधर-उधर उड़ रही थीं । सामने भील के पानी पर, सूरज की किरणों से, वह आलम नज़र आता था, जैसे पियला हुआ सोना थलक रहा हो । दरख्तों के पत्तों की आड़ में, किरणें और ही आलम दिखा रही हैं । आस-मान पर सुर्ख शक्र फूली हुई थी । इस वक़्त का समौ ऐसा न था, कि एक खक्रकानी मिज़ाज की औरत, जैसी कि मैं हूँ, जल्दी से छोलदारी में चली आती । यह तमाशा देखती हुई, खुदा जाने किन्ती दूर निकल गई । आगे जाकर एक कच्ची सड़क मिली । इस पर कुछ ग़ैवार रास्ता चल रहे थे । किसी के कंधे पर हल था, कोई बैलों को हाँकता हुआ चला आता था । एक छोटी सी लड़की, गाय भैंस लिये जाती थी । एक लड़का बहुत सी भेड़ों और बकरियों के पीछे था, यह सब आँखों के सामने आये और नज़रों से सायब हो गये । मैं फिर अकेली रह गई । नहीं मालूम किस धुन में थी । मगर अब मैं सड़क पर चलने लगी । अपने नज़दीक, मैं गोया अब तालाब की तरफ़ चल रही हूँ । अब अँधेरा होता जाता है । सूरज डूबने ही को है । अब मेरा क़दम जल्द जल्द उठ रहा है । आगे चलकर एक फ़कीर का तकिया मिला । यहाँ कुछ लोग बैठे, हुक्का पी रहे थे । मैंने तालाब का रास्ता पूछा । मालूम हुआ, कि मैं लखनऊ की सड़क पर जा रही हूँ । तालाब दाहिने को झूट गया है । यहाँ सड़क छोड़ना पड़ी । एक बीहड़ में से

होकर रास्ता था। थोड़ी दूर पर एक नाला मिला। नाले के उस पार, थोड़े फासले पर, दो तीन दरखत थे। मैंने देखा कि इन दरखतों की जड़ से इक जरा हटके कोई शख्स मैली सी धोती बाँधे, मिर्जई पहने, एक मैला सा चादरा कमर से लिपटा हुआ खुरपी हाथ में लिये कुछ खोद रहा है। मेरे इस शख्स से चार आँखें हुईं। पहले तो कुछ गुबहा सा हुआ, फिर एक मर्तबा गौर से देखा। अब करीबन, यक़ीन हो गया कि वही है। चाहती थी, कि नज़र फेर लूँ। मगर निगाह कमबख्त उसी तरफ़ लड़ी रही। अब तो बिल्कुल यक़ीन हो गया। करीब था कि तश खा के गिर पड़ूँ और ज़रूर ही गिर पड़ती। इतने में दूर से अकबर अली खाँ के नौकर, सलारबख़्श की आवाज़ कान में आई। मुझे ढूँढ़ने निकला था। मुझे आते देखकर, दिलावर खाँ ने खुरपी हाथ से रख दी थी। जिस तरह, मैं उसे देख रही थी, वह भी मुझको देख रहा था, मगर यक़ीनन उसने मुझे न पहचाना हो। मैंने उसको अच्छी तरह पहचान लिया था।

सलारबख़्श की आवाज़ सुनकर, वह नाले की तरफ़ भागा। इतने में सलारबख़्श मेरे पास पहुँच गया। मैं मारे खौफ़ के थर-थर काँप रही थी। आवाज़ मुँह से नहीं निकलती थी। धिक्की बँधी हुई थी। सलारबख़्श ने मेरा यह हाल देख के कहा, 'हाय डर गई?' मैंने दरख़्त की तरफ़ इशारा किया। सलारबख़्श उस तरफ़ देखने लगा।

सलारबख़्श : 'वहाँ क्या धरा हुआ है? एक खुरपी पड़ी हुई है। वाह ! इससे डर गई। आप समझीं, कोई क्रब खोद रहा है और वह गया कहाँ, जो खोद रहा था?'

मुँह से तो बोला न गया, हाथ से नाले की तरफ़ इशारा किया।

सलारबख़्श : 'चिलम पीने गया होगा, तकिये पर। अच्छा, तो चलिए, नवाब छब्बन साहब बहुत सी मुर्गावियाँ शिकार करके लाये हैं। आपका कहीं पता नहीं। मियाँ उधर ढूँढ़ने गये हैं, मैं इधर आया। कहिये आपको रास्ता न मिलता।' मैंने, हाँ ना, किसी बात का जवाब न दिया। आखिर सलारबख़्श भी चुप हो रहा। थोड़ी देर में खेतों में से होके तालाब पर पहुँच गई।

रात को यहीं रहने की ठहरी । जब खाने वाने से फरागत हो गई, मैंने अकबर अली खाँ से कुल वाक्या बयान किया ।

अकबर अली खाँ : 'तुमने अच्छी तरह से देखा ? यह वही दिलावर अली खाँ था ? फ़ौजाबाद का रहने वाला ? उसका तो हुलिया जारी है । अफ़सोस ! तुमने पहले से न कहा । बदमाश को चल के गिरफ़्तार करते । बड़ा नाम होता । गरकार सेइनाम मिलता । एक हजार का इस्तहार है । और यह खोदता क्या था ?'

मैं : 'क्या मालूम, मुआ अपनी कब्र खोदता होगा ।'

अकबर अली : 'उसके नाम से तुम्हारे मुँह पर हवाइयाँ छूटने लगती हैं । अब वह तुम्हारा क्या कर सकता है ?'

मैं (दिल को जरा धाम के) : 'ज़रूर उसने ग़दर के ज़माने में वहाँ कुछ गाड़ दिया होगा, उसे खोदने आया है ।'

अकबर अली खाँ : 'चलो देखें ।'

मैं : 'मैं तो न जाऊँगी ।'

अकबर अली खाँ : 'मैं तो जाता हूँ । सलारबख़्श को लिये जाता हूँ ।'

मैं : 'कहाँ जाओगे ? अब वहाँ घरा होगा ? वह तो खोद के ले भी गया होगा ।'

अकबर अली खाँ : 'मैं तो ज़रूर जाऊँगा ।'

यह सारा जोर से कहा । पास नवाब छद्मन साहब की छोलदारी थी, वह और बिस्मिल्ला दोनों जाग रहे थे ।'

नवाब : 'खाँ साहब ! कहाँ जाइयेगा ।'

अकबर अली खाँ : 'नवाब साहब ! अभी आपने आराम नहीं किया ?'

नवाब : 'जी नहीं ।'

अकबर अली खाँ : 'मैं हाज़िर हूँ ?'

नवाब : 'आइये ।'

अकबर अली खाँ और मैं, दोनों नवाब की छोलदारी में गये । कुल वाक्या बयान किया ।

नवाब (मुभसे) : 'और तुम इस बदमाश को क्या जानो ?'

मैं (अपनी सरगुज्जस्त तो उन से क्या कहती) : 'मैं जानती हूँ, और खूब जानती हूँ । मैं भी फ़ैजाबाद की रहने वाली हूँ ।'

नवाब : 'आख़ताह ! आप भी फ़ैजाबाद की रहने वाली हैं ?'

अकबर अली खाँ : 'मगर इस मरदूद का कोई बन्दोबस्त करना चाहिये । ऐसे में यहीं कहीं है । अजब नहीं गिरफ़्तार हो जाये ।'

यह कह के सलारबख़्श को आवाज दी । क़लमदान मँगवाया । थाना क़रीब था । थानेदार को रक्का लिखा । थोड़ी देर में थानादार साहब, भय दस-बारह सिपाहियों के, आ मौजूद हुए । मैंने जो देखा था था, उनसे कह दिया । गाँव से पासी बुलवाये गये । पहले उस मौक़ा पर जा कर ढूँढ़ा । तकिया पर फ़कीर से किसी क़दर सुराग़ मिला, और एक सिपाही को एक अशरफ़ी शाही ज़माने की मिली । वह थानेदार साहब के पास ले आया ।

थानादार : 'ख़ुदा चाहे, तो मय माल गिरफ़्तार होगा ।'

थानेदार साहब ने वाक़ई अच्छा बन्दोबस्त किया । सिपाहियों ने भी खूब दौड़ धूप की । आख़िर तीन बजे रात को मक्कागंज में गिरफ़्तार हुआ । सुबह होते-होते तालाब पहुँच गया । तलाशी में चौबीस अशफ़ियाँ बरामद हुईं । मैं शनाख़्त के लिये बुलाई गई । मेरी शनाख़्त के अलावा, दो सिपाहियों ने भी पहचाना । दस बजे चालान लखनऊ को रवाना हो गया ।

रसवा । 'अच्छा तो फिर उसका हशर क्या हुआ ? इस किस्से को जल्दी ख़तम कीजिये ।'

मैं : 'हुआ क्या ? कोई दो महीने के बाद मालूम हुआ, फाँसी हो गई । वस्ले जहन्नुम हुआ ।'

पच्चीस

न पूछो नामाए एमात को दिलावेजो ,
तमाम उम्र का क्रिस्ता लिखा हुम्रा पाया ।

मिर्जा हसवा साहब ! जब आपने मेरी सरगुज्जशत का मसविदा मुझे दुबारा देखने के लिये दिया था, मुझे ऐसा गुम्सा आया, कि जी चाहता था, पुर्जों-पुर्जों करके फैंक दूँ । बार-बार ख्याल आता, कि ज़िन्दगी में क्या कम बदनाम हुई, कि इसका अफ़साना, बाद मरने के भी बाक़ी रहे, कि लोग इसको पढ़ें और मुझे लानत मलामत करें ? मगर आपकी मेहनत के लिहाज़ ने हाथ रोक लिया ।

इत्तिफ़ाक़न कल रात को बारह बजे के करीब, सोते-सोते आँख खुल गई । मैं, हसब मामूल कमरे में तन्हा थी । मामाएँ, ख़िदमतगार सब नीचे मकान में सो रहे थे । मेरे सिरहाने लैम्प रोशन था । पहले तो देर तक करवटें बदला की । चाहती थी, सो जाऊँ । पर किसी तरह नींद न आई । आख़िर उठी, पान लगाकर मामा को पुकारा, हुक्का भरवाया । फिर पलँग पर जा लेटी । हुक्का पीने लगी । जी में आया कोई किताब देखूँ । बहुत से क्रिस्से कहानी की किताबें, सिरहाने अलमारी में रखी थीं । एक-एक को उठा के बरक उलटे-पलटे, मगर व्ह सब कई मतँबा की देखी हुई थीं । जी न लगा, वन्द करके रख दीं । आख़िर इसी मसविदे पर हाथ पड़ा । ख़फ़क़ान की शिद्दत थी । सचमुच मैंने इसे चाक़ करने का क़सद कर लिया । चाक़ ही किया चाहती थी,

कि यह मालूम हुआ जैसे कान में कोई कह रहा है, 'अच्छा उमराव ! फिलहाल इसे तुमने फाड़ के फैंक दिया, जला दिया, तो इससे क्या होता है । तमाम उम्र के वाक्यात, जो खुदाए आदिल के हुक्म से फ़रिश्तों ने मुफ़स्सिल लिखे हैं, उन्हें कौन मिटा सकता है ?'

इस ग़ैबी आवाज से मेरे हाथ पाँव लज्जने लगे । करीब था, कि मसविदा हाथ से गिर पड़े । मगर मैंने अपने तई सँभाला । चाक करने का ख्याल तो बिल्कुल दिल से मिट गया । जी चाहा, जहाँ से उठाया था, वहीं रख दूँ । फिर एक बारगी यूँ ही बिला क़सद पढ़ना शुरू कर दिया । पहला सफ़ा जब ख़त्म हो गया, वरक उलटा । दो चार सतरें और पढ़ीं । इस वक़्त मुझे अपनी सरगुज़श्त से कुछ ऐसी दिलचस्पी पैदा हो गई थी, कि जिस क़दर पढ़ती जाती थी, जी चाहता था और पढ़ूँ । और किस्सों के पढ़ने में मुझे ऐसा लुत्फ़ कभी न आया था । क्योंकि उनको पढ़ते वक़्त य़ा ख्याल पेशे नज़र रहता था, कि यह सब बनाई हुई बातें हैं । दर हक़ीक़त कोई असल नहीं । यही ख्याल किस्से को बे मज़ा कर देता है । मेरी सरगुज़श्त में जो बातें आपने क़लम बन्द की हैं, वह सब मुझ पर गुज़री हैं । इस वक़्त, वह सब, गोया मेरी आँखों के सामने थे । हर वाक़या असली हालत में नज़र आता था । और इससे तरह तरह के असर मेरे दिलो दिमाग़ पर तारी थे, जिनका बयान बहुत ही दुश्वार है । अगर कोई मुझको इस हालत में देखता, तो उसको मेरी दीवानगी में कोई शक़ न रहता । कभी तो मैं बेअख़्तियार हँस पड़ती थी । कभी टप टप आँसू गिरने लगते थे । गरज़कि अजब क़ैफ़ियत थी । आपने फ़र्माया था, 'जा बजा बनाती जाना ।' इसका होश किसे था । पढ़ते-पढ़ते सुबह हो गई । अब मैंने वजू किया, नमाज़ पढ़ी, फिर थोड़ी देर सो रही । सुबह को कोई आठ बजे आँख खुली । हाथ मुँह धो के पढ़ने लगी । बारे सरे शाम सारा मसविदा पढ़ चुकी ।

तमाम किस्से में, वह तक्ररीर आपकी मुझे बहुत ही दिलचस्प मालूम हुई, जहाँ आपने नेक बख़्तों और ख़राब औरतों का मुकाबिला करके इनका फ़र्क़ बताया है । नेक बख़्त औरतों को जिस क़दर फ़ख़ हो, ज़ेबा है, और हम

ऐसी बाजारियों को इनके इस फ़ख़ पर बहुत ही रक्षक करना चाहिये। मगर इसके साथ यह खयाल आया, कि इसमें वक्त और इत्तिफ़ाक़ का बहुत कुछ दखल है। मेरी ख़राबी का सबब, वही दिलावर ख़ाँ की शरारत थी। न वह मुझे उठा लाता और न इत्तिफ़ाक़ से खानम के हाथ फ़रोख़्त होती। न मेरा यह लिखा पुरा होता। जिन बातों की बुराई में, मुझे अब कोई शुबहा नहीं रहा और इसीलिये एक मुद्त हुई, कि मैं उनसे बेजार और तायब हूँ। उस जमाने में इनकी हज़ीक़त मुझे किसी तरह नहीं मालूम हो सकती थी। न ऐसा कोई क़ानून मुझे बताया गया था, कि मैं उनसे दूर रहती, और ऐसा न करती, तो मुझे सज़ा दी जाती। मैं खानम को अपना मालिक और हाकिम तस्सबुर करती थी। कोई काम ऐसा न करती, जो उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़ हो और अगर करती भी, तो बहुत छिप्रा के, ताकि उनकी मार और फ़िड़कियों से बच सकूँ। अगर खानम ने ज़िन्दगी भर मुझे फूल की छड़ी भी नहीं छुवाई, मगर ख़ौफ़ शालिब था।

जिन लोगों में, मैंने परवरिश पाई थी, जो उनका तरीक़ा था, वही मेरा भी था। मैंने उस ज़माना में कभी किसी मज़हबी अक़ीदा पर ग़ौर नहीं किया, और मेरा खयाल है, कोई ऐसी हालत में न करता।

कुदरती हादसे, जिनका कोई वक्त मुकरर नहीं है, मगर जब वाक़यात होते हैं, तो दिलों में एक ख़ास किस्म की दहशत समा जाती है। मसलन जोर से बादल का गरजना, बिजली का चमकना, आँधियों का आना, ओलों का गिरना या ज़नज़ले का आना, सूरज ग्रहण या चाँद ग्रहण, अकाल, बग़ैरा वग़ैरा। ऐसी बातें अक्सर खुदाई ग़ज़ब की अलामतें समझी जाती थीं। फिर मैंने देखा कि लोगों के बाज़ आमालों की वजह से, वह रफ़ा दफ़ा हो गईं। मगर यह भी देखा कि बहुत सी आफ़तें, दुगा, तावीज़, टोटके वोटके किसी बान से न टर्हीं। ऐसी बातों को लोग खुदा की मरज़ी, तकदीर की तरफ़ मनरूब कर दिया करते हैं। मज़हबी आहक़ाम मुझ पर मुफ़्तिल न पहुँचे थे और न सवाब इजाब का मसला अच्छी तरह समझाया गया था। इसलिये इन बातों का असर मेरे दिल पर न था। बेशक उस ज़माने में मेरा कोई

मजहब न था। सिर्फ, जो और लोगों को करते देखती थी, वही आप भी करने लगती थी। उस वक्त में, मेरा कोई मजहब ही न था। तकदीर पर, मैं बहुत ही शाकिर थी। जो काम मैं काहिली से न कर सकती थी, या मेरी बेवकूफी से बिगड़ जाता था, उसको तकदीर के हवाले कर देती। फ़ारसी किताबों के पढ़ने से आसमान की शिकायत करने का मजमून मेरे हाथ आ गया था, और जब मेरा कोई मतलब फ़ौत हो जाता था या किसी और वजह से मलाल पहुँचाता था तो बेजा फ़लक की शिकायतें किया करती थी :—

हम भी हैं मुत्तार, लेकिन इस कदर है अस्तियार,
जब हुए मजबूर, किस्मत को बुरा कहने लगे।

मौलवी साहब, बुआ हुसैनी और बुड्ढे बुढ़ियाँ, जब अगले जमाने की बातें करते थे, तो इससे मालूम होता था, कि वह जमाना, इस जमाना से बहुत ही अच्छा था। इसलिये उनकी तरह, मैं भी उस जमाना की तारीफ़ और मौजूदा जमाना की, दिला वजह बुराई किया करती थी। मैं कमबख्त इस बात को न समझी, कि बुड्ढे बुढ़ियाँ जो अगले वक्तों की तारीफ़ करते हैं, इसका सबब यह है, कि अपनी-अपनी जवानी के दिन सबको भले मालूम होते हैं। इसलिये दुनिया भली मालूम होती है। 'खुद जिन्दा जहाँ जिन्दा, खुद मुर्दा, जहाँ मुर्दा' सिन रसीदा लोगों की देखा देखी जवानों ने भी उन्हीं का तरीका अख्तियार कर लिया है। और चूँकि यह राजतफ़हमी मुद्दत से चली आती है, इसलिये अब, अमूमन सबको इसकी आदत हो गई है।

जवान होने के बाद, मैं ऐश्वर्याराम में पड़ गई थी। इस जमाने में गा-बजा के मर्दों को रिफ़ाना, मेरा खास पेशा था। इसमें बमुकाबला और साथ वालियों के जिस क़दर कामयाबी या नाकामयाबी भुझको होती थी, वही मेरी खुशी और रंज का अन्दाज़ था। मेरी सूरत, बनिस्वत औरों के, कुछ अच्छी न थी, मगर फने मौसीकी की महारत और शेरसखून की क़ाबलियत की वजह से, मैं सबसे बड़ी चढ़ी रही। अपनी हम उम्रों में मुझे एक खास किस्म का बढप्पन हासिल था, मगर इससे कुछ नुकसान भी हुआ। वह यह, कि जिस क़दर मेरी इज़जत ज़्यादा होती गई, उतना ही मेरा घमण्ड का ख़याल

दिल में पैदा होता गया। जहाँ और रंडियाँ बेबाक्री से अपना मतलब निकाल लेती थीं, मैं मुँह देखती रह जाती थी। मसलन उनका यह ग्राम कायदा था, कि हर कसोनाकस से, किसी न किसी क्रिस्म की फ़रमाइश ज़रूर कर देनी चाहिये। मुझे इससे शर्म आती थी। यह ख्याल आता था, ऐसा न हो इन्कार कर दे, तो शर्मिन्दा होना पड़ेगा। और न हर शख्स से, मैं बहुत जल्द बेतकल्लुफ़ हो जाती थी। मेरी और साथ वालियों के पास जब कोई आ के बैठता, तो उनको सबसे ज्यादा फ़िक्र इसकी होती, कि यह कहाँ तक दे सकता है और हम कहाँ तक इससे ले सकते हैं। मेरा बहुत सा वक्त, उस शख्स की जाती लियाक़त, हुस्ने इखलाक के अन्दाज करने में सर्फ़ हो जाता था। माँगने की आदत को, मैं मायूस समझने लगी थी। इसके अलावा और बातें भी मुझ में रंडीपने की न थीं। इसलिये मेरी साथ वालियों में से कोई मुझे नाक चोटी में गिरफ़्तार, कोई पगली, कोई दीवानी समझती थी, मगर मैंने अपनी की, किसी की न सुनी।

फिर वह ज़माना आया, कि मैं रंडी के ज़लील पेशा को ऐब समझने लगी और उसे छोड़ दिया। हर शख्स से मिलना तर्क कर दिया। सिर्फ़ नाच मुजरे पर बसर आक्रांत रह गई। किसी रईस ने नौकर रज़ लिया, तो तौकरी कर ली। रपता रपता यह भी तर्क कर दिया।

जब मैं इन अफ़माल से तागब हुई, जिनको मैंने अपने नज़दीक चुरा समझ लिया था, तो अक्सर मेरे जी में आया, कि किसी मद आदमी के घर पड़ जाऊँ। लेकिन फिर यह ख्याल आया कि लोग कहेंगे, आखिर रंडी थी ना, क़फ़न का चोंगा किया, या मरते मरते क़फ़न ले मरी। यानी अपने दाम बचा लिये और तमाशबीनों पर अपने क़फ़न का बोझ डाला। इस मिसल से, रंडियों की बेहद खुदशरजी, लालच और फ़रेब का सबूत मिलता है। इसमें कुछ शक नहीं, कि हम लोग ऐसे ही होते हैं। फ़ज़ कीजिये, कि मैंने सचमुच ही तौबा कर ली है, और अब इन्तहाँ की नेक हूँ, मगर इसको सिवाय खुदा के और कौन जानता है ? किसी शख्स को मेरी नेकी का यकीन नहीं हो सकता। फिर अगर इस हालत में किसी से मुहब्बत करूँ और मुहब्बत का

बिना सरासर सच्चाई और नेकनीयती पर हो, तो इस पर भी खास वह शख्स और इसके सिवा और जो लोग देखें या सुनेंगे, कभी यकीन न लायेंगे'। फिर मेरा मुहब्बत करना भी बेकार होगा। लोग मशहूर करते हैं कि मेरे पास दौलत है। इसलिये अक्सर लोग, इस सिन में भी मेरी ख्वाहिश करते हैं, और तरह तरह के फरेब मुझको देना चाहते हैं। कोई साहब मेरे हुस्नो जमाज की तारीफ करते हैं, अगर्चे इन का ताल्लुक, मैं ऐसी रंडियों से सुन चुकी हूँ जो बदरजहा मुझ से बेहतर हैं। कोई साहब मेरे कमाले मौसीकी पर शश हैं, हलाँकि उनके कान ताल सम से आशना नहीं। कोई मेरी शायरी की तारीफ करते हैं। जिन्होंने उम्र भर एक मिसरा मौजू कहना तो कैसा, पढ़ा भी न होगा। एक साहब मेरी इल्मियत के क़ायल हैं, खुद भी पढ़े लिखे हैं मगर मुझको मौलाना औरलना समझते हैं। मामूली मसले, रोज़ा नमाज के भी मुझ से पूछ लिया करते हैं। गोय कि आप मेरे मुरीद हैं। एक मेरे आशिक़ ज़ार, मेरी दौलत और कमाल से कोई वस्ता नहीं, सिर्फ़ मेरी तन्दुस्तती के खाँहाँ हैं। हर बात पर अल्लाह आमीन। मुझे छींक आई और उन्हें दर्दे सिर होने लगा। मुझे दर्दे सिर हुआ और उनके दुश्मनों का दम निकलने लगा। एक बुजुर्ग नसीह्त दिया करते हैं? दुनिया की ऊँच नीच सब समझाया करते हैं। मुझको बहुत ही भोला समझते हैं। इस तरह की बातें करते हैं, जैसे कोई दस ग्यारह बरस की लड़की से बातें करता हो।

मैं एक घाघ औरत हूँ, घाट घाट का पानी पिये हुए। जो जिस तरह बनाता है, बन जाती हूँ और दर हकीकत उनको बनाती हूँ। ख़लूस के साथ भी मिलने वाले दो एक साहब हैं, बेग़रज मिलते हैं। उसका मतसूद सिर्फ़ एक मज़ाके खास है। मसलन शेरों सखुन या गाना बजाना या सिर्फ़ लुत्फ़े गुफ़्तग़, न उनको कोई शरज़ मुझ से है न मुझे कोई शरज़ उन से। ऐसे लोगों को मैं दिल से चाहती हूँ, और बेग़रजी हौले हौले एक शरज़ हो गई है, कि न मुझे बग़ैर उनके चैन आता है, और न उन्हें बग़ैर मेरे। मगर इन लोगों में कोई मुझे घर में बिठाने का उम्मीदवार नहीं है। काश! कि ऐसा होता! मगर यह तमन्ना ऐसी है, जैसे कोई कहे कि काश जवानी फिर आती। इसमें

कोई शक नहीं, कि औरत की जिन्दगी सिर्फ जवानी तक है । अगर जवानी के साथ ही जिन्दगी भी खत्म हो जाया करती, तो क्या खूब होना ! मगर ऐसा नहीं होता । यूँ तो बुढ़ापा हर एक के लिये बुरा है, खसूसन औरत के लिये । खसूसन रंडी के लिये, बुढ़ापा, दोजख का नमूना है । बुढ़िया फकीर-रनियाँ, जो लखनऊ के गली कूचों में पड़ी फिरती हैं, अगर शोर कीजियेगा, तो इन में अक्सर रंडियाँ हैं । कौन सी ? जो कभी जमीन पर पैर न रखती थीं, कयामत बरपा कर रखी थी, हजारों भरे पुरे घर तबाह कर दिये, सैकड़ों जवानों को बेगुनाह क़त्ल दिया । जहाँ जाती थीं, लोग आँखें बिल्लाते थे । अब कोई इनकी तरफ़ आँख उठा के भी नहीं देखता । पहले जहाँ बैठ जाती थीं, लोग वास वास हो जाते थे, अब कोई खड़े होने का भी रवादार नहीं । पहले बिन मर्गि मोती मिलते थे, अब मर्गि भीख नहीं मिलती ।

इनमें से अक्सर, अपने हाथों अपनी तबाही का बाइस हुई । एक बड़ी बी भरे मकान पर कभी कभी आया करती थीं, किमी जमाने में बड़ी मशहूर रंडियों में थीं । जवानी में हजारों रुपये कमाये । जरा मजेदार जीवड़ा था । जब सिन से उतरतीं, वही कमाई यारों को खिलाना शुरू की । बुढ़ापे में एक नौजवान के घर बैठीं । एक तो वह खूबसूरत कमसिन, भला वह इत पर क्यों रोझता । पहले तो बीबी जरा दिगड़ीं, मगर जब मियाँ ने असल मतलब समझा दिया, खामोश हो रहीं । इनकी खातिरें होने लगीं । जब तक माल रहा, खूब मियाँ बीबी, दोनों ने फुसला के चाया, आगिर खख हो गईं । अब कौन पूछता है ? निकाल बाहर किया, गलियों की ठोकरें खाती फिरती हैं ।

धाज बेवकूफ़ रंडियों ने किसी की लड़की को ले के पाला । उस से दिल लगाया । इस हिमाकत में, मैं भी गिरफ़्तार हो चुकी हूँ । मगर जब वह जवान हुई, ले दे के किसी के साथ निकल गई । और अगर रही, तो कुल माल रफ़ता रफ़ता अपने क़ब्ज़े में किया, इनको घर का इन्तज़ाम या मामा शोरी करने को रख लिया ।

आबादी ने भी जुल दिया होता, मगर वह तो कहाँ, उसके करतूत पहले ही खुल गये, नहीं तो मुझे लुट ही ले जानी । मर्द क्या और औरत क्या, रंडी की

कौम में बदकारों की जिन्दगी का उसूल ही ऐसा बिगड़ा हुआ है, कि एक दूसरे में मुहब्बत नहीं हो सकती । न कोई समझदार मर्द ही इनको दिल दे सकता है, क्योंकि सब जानते हैं कि रंडी किसी की नहीं होती, और न औरत ही ऐसी मुहब्बत कर सकती है । तोचियाँ अपने दिल में यह समझती हैं, कि कमाते हम हैं, फिर इनको क्यों दें ?

अगले कदरदान मर्द, जवाले हुस्न के बाद किनारा करते हैं । यह इसकी आदी होती है, कि लोग झूठी खुशामद करें । भला अब क्यों कोई खुशामद करने लगा ? मरजेकि मर्द इन से किनारा कश और यह मर्दों से शिकायत करती रहती हैं ।

पहले पहल मैं भी. और रंडियों की जबानी, मर्दों की बेवफाई का दुबड़ा सुन के वकत जाया करती थी और बेसमझे उनकी हँ में हँ भी मिलाती थी । मगर वावजूद उसके, कि गौहर मिर्जा ने मेरे साथ जो कुछ सलूक किया, वह सब आपको मालूम है और नवाब साहब, जिन्होंने मुझ पर निकाह का इल्जाम लगाया था, इसको भी आप सुन चुके हैं, फिर मर्दों को बेवफा नहीं कह सकती । इस मुआमला में औरतें, खसूमन बाजार वालीयाँ, इनसे किसी तरह कम नहीं होनीं । मुहब्बत के बाव में, मुआफ़ कीजियेगा, मर्द, अक्सर बेवकूफ़ और औरतें बहुत ही चालाक होती हैं और अक्सर मर्द, सच्चे दिल से इज्जतारे इश्क़ करते हैं और अक्सर औरतें झूठी मुहब्बत जताती हैं । इसलिये, कि मर्द जिस हालत में इज्जतारे-इश्क़ करते हैं, वह हालत उनकी तड़पन होती है और औरतों पर बहुत जल्द असर नहीं होता, क्योंकि मर्द बहुत ही जल्द औरतों के जाहिरी हुस्न पर फ़रेषता होकर, उन पर शंदा हो जाता है । और औरतें इस बाव में ज्यादा एहतियात करती हैं, इसीलिये मर्दों की मुहब्बत अक्सर जल्दी खत्म हो जाती है, और औरतों की मुहब्बत देरपा होती है । लेकिन दोनों के आपसी ब्योहार से, इन बातों में एक खास किस्म का एतदाल पैदा हो सकता है, बशर्ते कि दोनों को, या कम से कम कम एक को, समझ हो ।

वाकई, मर्द इस मुआमले में, जल्दी भरोसा ले आते हैं और औरतें इन्तहा की शक्की । मर्द पर औरत का जादू बहुत जल्द चल जाता है, मगर औरत

पर इश्क का अमल मुश्किल से कारगर होता है । मेरे नजदीक यह नुक्स कुदरत की तरफ से है, इसलिये कि औरतें जिस्मानी लिहाज से कमजोर हैं । उनको बाज गुण ऐसे दिये गये हैं, जिस से यह कमी पूरी हो जाये । इन औसाफ के अलावा, एक गुण यह भी है, बल्कि मैं कह सकती हूँ, शायद यही एक गुण है ।

अक्सर मर्द यह कहेंगे कि औरतें हसीन होती हैं । मैं इसकी कायल नहीं । दर हकीकत न मर्द ही बजाये खुद हसीन है, न औरत । बल्कि हर एक को ऐसा हुस्न इनायत हुआ है, जो दूसरे को अच्छा मालूम हो । यूँ तो मर्द, औरत, जिसका नाक नक्शा अच्छा होता है, सब उसे पसन्द करते हैं, मगर असल कदरदान, मर्द के हुस्न की औरत और औरत के हुस्न का मर्द है । एक खूबसूरत औरत, दूसरी खूबसूरत औरत के सामने उस खुशरंग फूल से ज्यादा नहीं है, जिसमें खुशबू न हो और एक बदसूरत मर्द भी, खूबसूरत औरत की राय में खूबसूरत फूल की तरह दिलपसन्द है, अगर्वें उनकी शक्ल और रंगत में कोई नयापन न हो ।

मुहब्बत के बाव में गलती, सिर्फ एक ही से नहीं होती, बल्कि दोनों इस बारीकी को नहीं समझते । इन दोनों मुहब्बतों की असलियत में फर्क है । जिस निगाह से मर्द औरतों को देखते हैं, उस निगाह से औरत मर्द को देखती ही नहीं । औरतों की मुहब्बत करने का अन्दाज, उन मर्दों में एक हद तक पाया जाता है, जो किसी मालदार औरत के दामने दौलत से बँधे हैं या जिनका सिन बहुत कम है, मगर कोई सिन रसीदा औरत, उनको चाहती है ?

इसमें शक नहीं, कि औरतें जवान मर्द से, बनिस्वत बुढ़ों के, ज्यादा मुहब्बत रखती हैं, मगर इसकी वजह भी महज हुस्नो जमाल नहीं हैं । बल्कि वजह यह है, कि औरत कमजोर है, इसलिये वह हर हालत में अपने हिमायती को बहुत दोस्त रखती है, ताकि जरूरत पड़ने पर उसको खतरे से बचा सके । पस जवान से, बनिस्वत बुढ़े से ज्यादा उम्मीद है और हुस्नो-जमाल इस खूबी के साथ मिलकर, उसके गुण को रौनक देता है ।

खुलासा यह है, कि मर्द की मुहब्बत में सिर्फ लज्जत शामिल करना

मकमूद है, और औरत की मुहब्बत में दुख से भहकूझ रहना और नज्जन दोनों सरजें शामिल हैं ।

चूँकि यह मशहूर है, कि मुहब्बत बेगरज होनी चाहिये, और औरत की मुहब्बत में इसका ज्यादा लगाव है, लिहाजा वह इसके छिपाने की कोशिश करती है । शायद यह कोई कहे, कि जो बातें, मैंने इस मीके पर बयान की हैं, इसमें अवसर बातों का इमत्याज न मर्दों को होता है, न औरतों को, तो मैं इसे तस्लीम कर दूँगी और यह कहूँगी कि यह बातें फ़ितरत की तरफ़ से मर्द व औरत के खमीर में दाखिल हैं । कुछ जरूरत नहीं है, कि इन्हें इसका शज़र भी दो । मैंने उम्र भर के तजुर्वे के बाद यह बातें दरयाफ़्त की हैं और मेरे साथ जो शरस, इस पर गौर करेगा वह इसे समझ सकता है ।

मैं देखती हूँ, कि अक्सर औरतें और नाखाँदा मर्द भी, ऐसी बागों पर शीर नहीं करते । इसलिये उनको अपने जमानाए ज़िन्दगी में, बहुत सी बग धक भिक भिक करनी पड़ती है ।

मेरे खयाल में अगर मर्द और औरत दोनों अपने-अपने स्वतंत्र और अमाराज को समझ ले, तो उनमें हरगिज़ मलाल न हो, बहुत सी आफ़तें टल जायें और बहुत सी दूर हो जायें ।

मगर एक मुश्किल है, कि जब किसी से किसी बात की सरमादश की जायें तो अक्सर यही जवाब मिलता है, 'ओह जी ! जो तकदीर में होगा मिल जायेगा ।' इसका यह मतलब है, कि हम जो चाहें करें, हमें न रोगो, हमारे किये कुछ नहीं होता, यानी हमारी बदकारियों का कोई नतीजा नहीं है जो कुछ होगा तकदीर से होगा, जो नतीजा निकलेगा मुआज़अत्ला खुदा की तरफ़ से होगा । यह बेकार की गुप्तश्रु अगले जमाने में किसी क़दर बामानी भी थी, क्योंकि उस जमाने में इत्तिफ़ाक़ से, घड़ी भर में कुछ का कुछ हो जाया करता था । इस पर मुझे बारी जमाने की एक नक़ल थाद आई है । जमानाए शाही में इनक़लाब का सबूत अक्सर मिलता रहता था । लोगों की हालतों में यक़ायक़ तबदीली हो जाया करनी थी ।

एक दिन का जिक्र है, एक सिपाही, निहायत शिकस्ता हाल, मोती महल के फाटक के पास चबूतरे पर पड़ा सो रहा था। नमाजे-सुबह के बाद, टहलते हुए, बादशाह उधर आ निकले। यकायक इतिफाकन उस वकत कोई साथ न था। मालूम नहीं, क्या जी में आया, आपने उसे जगा दिया। यह सिपाही, यूँ ही नींद से आँखें मलता हुआ उठा। जहाँपनाह पर नजर पड़ी। पहले तो घबरा गया, फिर एक ही गर्तवा मंसख के अपनी हानत को देखा, फौरन तलवार नजर की। बादशाह ने नजर कुवूल भी कर ली। जंगमालूद तलवार थी, म्यान में बमुश्किल निकली। फिर देवभालकर उस तलवार की तारीफ़ की, और फिर म्यान में करके अपनी कमर में लगा ली। खुद जो ज़िलायती बाँधे हुए थे, जिसका सोने का क़वचा था, उसको हवाला की। उसी मौक़ा पर, हुजूर आलम आ गये (खिताब अली तक़ी ख़ाँ वज़ीरे अब्द) जहाँपनाह ने उस जवान और ५। तलवार की तारीफ़ की।

बादशाह : 'देखना भई, क्या सजीला जवान है, और तलवार भी इसके पास क्या उम्दा थी ? (कमर से तलवार निकाल कर) यह देखो।'

वज़ीर : 'क्रिबलाए-आलम। सुभान अल्लाह ! मगर हुजूर सा जीहूर घनास और क़दरदान भी तो हो। जब ऐसे लोग और ऐसी चीज़ मिलनी हैं।'

बादशाह : 'मगर देखना भई। मेरी तलवार भी कुछ ऐसी बदजेब नहीं है।'

वज़ीर : 'ज़िल्ले सुभानी की तलवार और बदजेब ?'

बादशाह : 'मगर लिबास इसके मुनासि नहीं है।'

इस अस्ना में मुसाहिब, मुलाज़िम, शाही चोबदार, खास बरदार आ गये। अच्छा खासा मजमा हो गया।

वज़ीर : 'दुरुस्त इशदि हुआ।'

बादशाह : 'अच्छा, हमारे कपड़े तो इसे पहना के देखे जायें। इस इशारे के पाते ही लोग दौड़े, लिबास की किश्तियाँ हाथों हाथ आ गईं। बादशाह ने मलबूसे खास, जो उस वक़्त पहने हुए थे, बमय मालाए मरवारीद और जोड़े नौरतन, उसे इनायत की। आप और कपड़े पहने। जब वह कपड़े पहन चुका तो बोले : 'हाँ अब देखो।'

बजीर : 'बाकई सूरत ही और हो गई ।'

मुसाहबीन तारीफें करने लगे ।

बादशाह थोड़ी देर यहाँ ठहरे । अब सवारी आ गई थी, सवार होके हवा खाने चले गये ।

सिपाही खुशी खुशी घर आया । जौहरी, महाजन, दलाल गोया साथ ही लगे हुए थे । असवाब आँका गया । सब पचास हजार रुपये की मालियत थी ।

सिपाही का हाल सुनिये । कहीं नजीबों की पलटन में तीन रूपया का नौकर था । रात को घर में खाने पर बीबी से भगड़ा हुआ । आप खफ़ा होके घर से निकल गये । रात भर मारे मारे फिरे । सुबह होते ही मोती महल के पास थक के बैठ गये, तींद आ गई । सुबह को खुश बछ्सी ने जगाया, तो यह करिश्मा नज़र आया । दम भर में मोहताज से अमीर कर दिया ।

इस तरह के वाक्ये, शाही वक्तों में अक्सर हुआ करते थे और ऐसे ही ज़माने में इनका होना मुमकिन है, जब कि हुकूमत की वागडोर एक शास्त्र के हाथ में हो और वह किसी कायदे और क़ानून का पाबन्द न हो । मुल्क को अपनी जायदाद और खज़ाने को अपना भाल समझे ।

अँगरेजी राज में इन फ़ज़ूल खर्चियों की गुन्जाइश नहीं है । यह एक तरह की वेइन्साफ़ी समझी जाती है, कि किसी शास्त्र को बिना वजह एक बड़ी रकम दे दी जाय । ऐसी सल्तनत, जिसमें बादशाह से लेकर एक फ़कीर तक क़ानून के पाबन्द हैं, अगर हकूक का लिहाज़ न रखा जाये, तो हरगिज़ काम न चले । इस ज़माना में तक्रदीर का जोर नहीं चलता, जो कुछ होता है तदवीर से होता है ।

नवाब छुट्टन शाहब का हाल सुनिये । अस्नाए स्वानेह उम्री में उनका बाक़ी ज़िक्र छूट गया था । दर हकीकत आप दरिया में डूबने गये थे । इस इरादे से शोता लगाया, कि अब न उभरेंगे । मगर जान बहुत प्यारी चीज़ होती है । जब देर तक पानी के नीचे रहे, दम धबराने लगा । जी में आया अब की उभर के फिर साँस ले लें । उभरे । पानी की सतह पर आकर, बिला क़मद

हाथ पाँव चलाने लगे । फिर मरने को जी चाहा । फिर गोता मारा, फिर वहीं हाल हुआ । इसी तरह कई गोते लगाये, मगर डूबते न बन पड़ा । आखिर इसी कोशिश में बहते बहाते, छतर मंजिल तक पहुँच गये । इतिफाकन, उस वक्त मिर्जाब ली अहद बहादुर मरहूम, अपने चंद मुसाह्वों समेत, वजरे पर सवार होकर सैर को निकले थे । उनकी नज़र जो पड़ी, समझे कोई शरस डूब रहा है । मल्लाहों को हुक्म दिया, जल्दी निकालो । उन्होंने लुड़ाने की बहुत कोशिश की । वह लोग समझे थे, घबरा गये । आखिर जबरदस्ती किनारे पर लाये । मिर्जाब ली अहद ने अपने सामने तलब किया । अहवाल पुरखी के बाद मालूम हुआ, कि रईसजादे हैं । कपड़े इनायत हुए । हमराह कोठी में लिये चले गये ।

छट्टन साहब, एक तो खुशरू जवान, दूसरे अदब कायदे से वाकिफ । इल्मे मजलिस से आगाह, पढ़े लिखे । तबीयत में मजाक भी था । गरजेकि हर तरह शाहजादे की मोहबन के लायक थे । फ़ौरन मुसाह्वों में नाम हो गया । काफ़ी तनलवाह हुई । अखराजाते ज़रूरी के लिये कुछ पेंसगी भी मिल गया । नौकर, चाकर, सवारी, सब सरकार से मिला । लीजिये फिर बया था, पहले से ज्यादा ठाठ हो गये ।

अब जो चौक में निकले, तो जलूस ही और था । हाथी पर सवार हैं । पचास खास बरदार आगे दौड़े चले जाते हैं ।

बिस्मिल्ला ने और मैंने अपनी आँखों से देखा । पहले तो यकीन न आया । कहीं भियाँ मखदूम बल्हा भी पीछे-पीछे चले आते थे, उनको इशारे से बुला लिया । मुफ़स्सिल हाल मालूम हुआ ।

इसके बाद चचा ने भी मेल कर लिया । शादी भी हो गई । शादी में हम लोग भी बुलाये गये थे । खानम को बहुत उम्दा दुशाला और रूमाल दिया । मगर उस दिन से, न कभी हमारे मकान पर आये, न बिस्मिल्ला से रस्म रखी । खानम ने और चाल चली थीं । बन न पड़ी, उलटी हो गई ।

खुलासा यह, कि शाही जमाने में ऐसे करिश्मे नज़र आ जाते थे । भला अँगरेजी हुकूमत में यह कहाँ ? सुनते चले आये हैं कि दौलत अन्धी है, मगर अब ऐसा

मालूम होना है कि किसी हिकमत से उसकी आंखें खोल दी गई हैं। अब उसे लायक और नालायक का ख्याल हो गया है।

शाही अमलदारी में जाहिल, नाखाँदा, जो अलिफ़ के नाम लट्ट नहीं जानते थे, बड़े-बड़े ओहदों पर लीकर थे। मैं कहती हूँ, उनसे काम क्योंकर चलता होगा और तो और मुए ख्वाजा सरायों के पास पराटनें और रिसाले थे। भला इन्साफ़ कीजिये, हँसने की बात है या नहीं ?

तकदीर और तदबीर के मसले में, मैं बहुत दिन चक्कर में रही। आखिर मालूम हुआ, कि जिन मानों में लोग इस लफ़्ज़ को इस्तेमाल कर रहे हैं, वह बिल्कुल धोखा है। अगर हमसे यह मुराद है, कि खुदा को हमारी सब बातों का इल्म अजल से है, तो इनमें कोई शक नहीं। वह काफ़िर है, जिसको इग़का एतकाद न हो। मगर लोग तो अपने बुरे अमलों के बुरे नतीजों की, तकदीर की तरफ़ निश्चय दिया करते हैं। इससे खुदा की क़ुदरत पर इन्ज़ाम आता है। यह बिल्कुल कुफ़र है।

अफ़सोस ! जिन बातों को मैं अब समझी, अगर पहले ही से समझ गई होती, तो बहुत अच्छा होता। मगर न कोई समझाने वाला था, न खुद इतना तज़ूर्बा था, कि आप ही समझ लेती। मौलवी साहब ने, जो दो हफ़्त पढ़ा दिये थे, वह मेरे बहुत काम आये। उस ज़माना में मुझे इसकी क़दर न थी। तब आसानी और आराम तल्बी के सिवा कोई काम न था। शलावा इसके, क़दरदान इस क़दर थे, कि किसी वक्त फ़ुरसत ही न मिलती थी। जब वह दिन आये, कि क़दरदान एक-एक करके खिसकने लगे, तो मुझे ज़रा मोहलस मिली। तो इस ज़माना में किताबें पढ़ने का शौक बढ़ा, क्योंकि सिवा इसके अब कोई शग़ल न रहा था।

मैं सच कहती हूँ, कि अगर यह शौक न होता, तो अब तक, मैं ज़िन्दा न रहती। जवानी के मातम और अगले क़दरदानों के शम में, कब का खात्मा हो गया होता। कुछ दिनों तो, मैं क्रिस्से कहानी की किताबों से दिल बहलाया की। एक दिन पुरानी किताबें धूप देने के लिए निकालीं। इनमें वह गुलिस्ता भी निकली, जो मौलवी साहब से पढ़ी थी। इधर उधर में बरक़्त उलट पलट

के पढ़ने लगी। पहले तो मुझे नफ़रत सी हो गई थी। एक तो इसलिये, कि तालीम का इवादाई जमाना था। इबारेत मुश्किल मालूम होती थी। दूसरे तजुर्बा न था। इसलिए कुछ समझ में नहीं आती थी। अब जो पढ़ा, तो वह दिक्कतें दूर हो चुकी थीं। खूब ही दिल लगाकर मैंने सिर से आखिर तक कई बार पढ़ा। फ़िक़रा फ़िक़रा दिल में उतरा जाता था। इसके बाद एक साहब से इख़लाके नासरी की तारीफ़ सुन के, उसके पढ़ने का शौक हुआ। उन्हीं से एक नुस्खा मंगा के पढ़ा। वाक़ई, इस किताब का मतलब भी मुश्किल है और अरबी लफ़्ज़ों कासरत से है। इसलिए इसके समझने में बहुत दिक्कत हुई। मगर थोड़ा-थोड़ा पढ़ के बहुत दिनों में किताब को ख़त्म किया। फिर दानिश नामा, ज़वलकिशोर के छापाख़ाना में छपा था, इसे पढ़ा। फिर एक मर्तबा सुगरा, कुबरा को बजाए खुद मुतालिआ किया और जो-जो न समझ में आया, उसे पूछ लिया। इन किताबों के पढ़ने से मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे दुनिया के भेद मुझ पर खुलते जाते हैं। हर बात की समझ आ गई। इसके बाद मैंने बहुत सी किताबें इस क्रिसम की, उर्दू, फ़ारसी बजाये खुद पढ़ीं। इससे तबीयत साफ़ होती गई। कसायद अनवरी और खाकानी एक-एक करके पढ़े। मगर झूठी खुशामद की बातों में, अब मेरा दिल न लगता था, इसलिये इनको बन्द करके अलमारी में रख दिया। फ़िलहाल कई अख़बार भी मेरे पास आते हैं, उन्हें देखा करती हूँ, उनमें दुनिया का हाल मालूम होता रहता है। फ़िरायत शुआरी की वजह से, मेरे पास अब भी इस क़दर जमा पूँजी है, कि अपनी ज़िन्दगी बसर कर ले जाऊँगी। वहाँ का अल्लाह मालिक है। मैं बहुत दिन हुए, सच्चे दिल से तौबा कर चुकी हूँ और जहाँ तक हो सकता है, रोज़ा नमाज़ की पाबन्द हूँ। रहती रंडी की तरह हूँ, खुदा चाहे मारे, चाहे ज़िलाये। मुझसे पदों में घुट के तो न बैठ जायेगा। मगर पर्दा वालियों के लिए दिल से दुआगो हूँ। खुदा उनका राज़ सुहाग़ कायम रखे।

इस मौक़ा पर, मैं अपनी हम पेशा औरतों की तरफ़ मुखातिब हो के, एक नसीहत करती हूँ, वह अपने दिल पर नक़्श कर लें।

‘ऐ बेवकूफ़ रंडी ! कभी इस भुलावे में न आना, कि कोई तुझको सच्चे

दिल से चाहेगा। तेरा आशना, जो तुझ पर जान देना है, चार दिन के बाँव चलता फिरता नजर आयेगा। वह तुझमें हरगिज निवाह नहीं कर सकता औ न तू इस लायक है। सच्ची चाहत का मजा, उसी नेक बरत का हक है, जं एक मुँह देख के, हमरे का मुँह कभी नहीं देखती। तुझ जैसी बाजारी शक्तल को, यह नेमत खुदा नहीं दे सकता।'

- खैर, मेरी तो जैसी गुजरना थी, गुजर गई। अब मैं अपनी ज़िन्दगी के दिन पूरे कर रही हूँ। जितने दिन दुनिया की हवा खाना है, खाती हूँ। मैंने अपने दिल को हर नौर ममका लिया है और मेरी कुल आरजुएँ पूरी हो चुकीं। अब किसी बात की तमन्ना नहीं रही। अगरचें यह आरजू कम्बख्त, वह बला है, कि मरते दम तक दिल से नहीं निकलती। मुझे उम्मीद है, कि मेरी सरगुजस्त से कुछ न कुछ फायदा जरूर होगा। अब मैं अपनी तकरीर को डम शेर पर खत्म करती हूँ और मैंसे उम्मीदवाले दुआ हैं।

मरने के दिन करीब हैं, शायद कि ऐ हयात,
तुझसे तबीयत अपनी बहुत सेर हो गई।



